जैनधर्म और दर्शन

एक परिचय

लेखक

राजस्थानकेसरी, अध्यात्मयोगी· उपाध्याय पण्डितप्रवर
श्रीपुष्करमुनिजी महाराज के सुशिष्य

देवेन्द्रमुनि शास्त्री

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्रीसर्कल, उदयपुर (राजस्थान)

* पुस्तक का नाम
जैन धर्म और दर्शन : एक परिचय

* लेखक
देवेन्द्रमुनि शास्त्री

प्रथम प्रवेश – फरवरी १६७६
द्वितीय प्रवेश–अगस्त १६८२
५२००

* मूल्य लागत से भी कम—
दो रुपये मात्र

* प्रकाशक
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राज०)
PIN 313001

* मुद्रक :
श्रीचन्द सुराना के लिए
श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस
आगरा-२

समर्पण

जैन धर्म और दर्शन के
साहित्य और संस्कृति के
जो गम्भीर ज्ञाता और व्याख्याता हैं
उन्हीं परम श्रद्धेय
राजस्थानकेसरी, अध्यात्मयोगी
पंडितप्रवर उपाध्याय गुरुदेव
श्रीपुष्करमुनिजी महाराज के
पवित्र कर-कमलों में
सादर सविनय समर्पित

—देवेन्द्रमुनि शास्त्री

उदार अर्थ सहयोगी

LALCHAND MUNOTH

M/s. Misrimal Navajee
49, Narayan Mudaly Street,
MADRAS-600001

आपने विशेष धर्म भावना एवं साहित्य प्रचार के लिए उदारतापूर्वक सहयोग प्रदान किया है। तदर्थ शत शत धन्यवाद !

—चुन्नीलाल धर्मावत
अध्यक्ष—श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
उदयपुर (राज०)

लेखक की कलम से

जैन धर्म, दर्शन, साहित्य और संस्कृति के सम्बन्ध में जन मानस में अनेक भ्रान्त धारणायें हैं। कितने ही विज्ञ जैन धर्म, को वैदिक धर्म की शाखा कहते हैं, कितने ही बौद्ध धर्म की, कितने ही वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में जैन धर्म का आविर्भाव मानते हैं। और कितने ही जैन धर्म के संस्थापक भगवान महावीर को मानते हैं। इसी प्रकार जैन दर्शन के सम्बन्ध में भी अनेक मिथ्या धारणायें हैं। अनेक मूर्धन्य मनीषियों ने स्याद्वाद को संशयवाद कहा है। इसी तरह साहित्य के सम्बन्ध में भी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे मूर्धन्य समालोचक जैन साहित्य को घासलेटी साहित्य मानते रहे हैं। और जैनियों का राष्ट्र को कितना योगदान है इस सम्बन्ध में भी जन मानस को सत्य-तथ्य का परिज्ञान नहीं है। अतः मेरे मन में चिरकाल से एक अभिलाषा थी कि इस प्रकार की एक लघुपुस्तक दी जाय जिसमें बहुत ही संक्षेप में जैन धर्म, दर्शन, साहित्य और संस्कृति का परिचय हो, जिससे भ्रान्त धारणाओं का निरसन हो सके। किन्तु अन्यान्य ग्रन्थों के लेखन में व्यस्त होने के कारण वह भावना मूर्तरूप न ले सकी।

मद्रास वर्षावास में श्रीमान् सुश्रावक सेठ मोहनमलजी व सेठ पारसमलजी चोरडिया ने मुझे प्रेरणा दी कि मैं ऐसी लघु-

पुस्तक लिखूँ जो कालेज के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी हो सके। जैन धर्म-दर्शन के जिज्ञासुओं की प्राथमिक—पिपासा शांत कर सके। तदनुसार मैंने यह पुस्तक लिखी। मेरे सामने पृष्ठों की मर्यादा का प्रश्न भी था और साथ ही संक्षेप में सभी का दिग्दर्शन कराने का भी प्रश्न था। अतः बहुत ही संक्षेप किन्तु सार रूप में मैंने परिचय देने का प्रयास किया है।

यह सत्य है कि जैन दर्शन के अपने पारिभाषिक शब्द हैं। वे शब्द जब तक न जाने जायँ तब तक विषय को समझने में जरा कठिनता रहती है और उन शब्दों का परिज्ञान होने पर विषय सहज ही हृदयंगम हो सकता है। उन शब्दों को दूसरे शब्दों में बदला भी नहीं जा सकता। बदलने पर अर्थ के स्थान पर अनर्थ होने की संभावना है। अतः सुगम रीति से जानने के लिए मैंने कुछ पारिभाषिक शब्दों के अर्थ भी कोष के रूप में दिये हैं जिससे पाठकों को सुगमता हो सके।

छपने के साथ ही प्रथम संस्करण समाप्त हो चुका था। लम्बे समय से इसके द्वितीय संस्करण की मांग थी। कुछ संशोधित और परिवर्धित कर यह द्वितीय संस्करण प्रस्तुत कर रहा हूँ।

—देवेन्द्र मुनि

अनुक्रमणिका

जैन धर्म और दर्शन

एक परिचय

सम्बन्ध श्रमण-संस्कृति (जैन संस्कृति) से है। डा० हेरास तथा प्रो० श्रीकण्ठशास्त्री आदि का भी यही अभिमत है।[1]

ऋग्वेद से यह ज्ञात होता है कि भारत में दो संस्कृतियाँ थीं; पहले उनमें संघर्ष हुआ, बाद में संघर्ष मिटकर स्नेह का वातावरण निर्मित हुआ। ये दोनों संस्कृतियाँ आर्य और आर्येतर नाम से विश्रुत हुईं। आर्य संस्कृति वैदिक संस्कृति है और आर्येतर संस्कृति श्रमण संस्कृति है।

ऋग्वेद में "बार्हत" और "आर्हत" शब्द प्रयुक्त हुए हैं। "बार्हत" सम्प्रदाय के अनुयायी वेदों को मानते थे और यज्ञ-यागादि में उनकी निष्ठा थी। "आर्हत" वेद और यज्ञादि को नहीं माननेवाले थे। उनकी अहिंसा और दया में निष्ठा थी, वे अर्हत के उपासक थे। विष्णु पुराण के अनुसार आर्हत कर्मकाण्ड के विरोधी थे और अहिंसा के प्रतिष्ठापक थे।[2] पद्मपुराण,[3] भागवत, पुराण प्रभृति ग्रन्थों में भी आर्हत सम्बन्धी अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। आर्हत सम्प्रदाय जैन सम्प्रदाय ही

---

१. भारतीय इतिहास, एक दृष्टि : डा० ज्योतिप्रसाद जैन पृ० २८

२. आर्हतं सर्वमेतच्च मुक्तिद्वारमसंवृतम् ।
धर्माद् विमुक्तेरर्होऽयं नैतस्मादपरः परः ॥

—विष्णु पु० ३।१८।१२

३. पद्मपुराण १३।३५०

को "निग्गंथ नाथपुत्र—णिग्गंठ णातपुत्त" कहा है।[10] अशोक के शिलालेखों में भी "निग्गंठ" शब्द का प्रयोग हुआ है।[11] भगवान महावीर के पश्चात् आठ गणधरों एवं आचार्यों तक "निर्ग्रन्थ" शब्द का मुख्य रूप से प्रचलन रहा। वैदिक ग्रंथों में भी "निर्ग्रंथ" शब्द प्रयुक्त हुआ है। सातवीं शताब्दी में बंगाल में निर्ग्रंथ सम्प्रदाय बहुत ही प्रभावशाली था।

'जैन धर्म' शब्द का प्रयोग

दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और सूत्रकृतांग प्रभृति आगम साहित्य में जिनशासन, जिनमार्ग, जिनप्रवचन आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। पर "जैन धर्म" शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम विशेषावश्यकभाष्य में हुआ है।[12] जिसका रचनाकाल विक्रम सं० ८४५ है। उसके पश्चात्वर्ती साहित्य में 'जैन धर्म' शब्द का प्रयोग विशेष रूप से हुआ। मत्स्यपुराण[13] में 'जिनधर्म' और

---

१०. (क) दीघनिकाय सामञ्ञफल सुत्त १८-२१
(ख) विनयपिटक महावग्ग पृ० २४२

११. इमे वियापरा हो हंति त्ति निग्गंठेसु पि मे कटे।"
—प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन
द्वि० खण्ड, पृ० १५।

१२. (क) जेणं तित्थं—विशेषावश्यक भाष्य गा० १०४३
(ख) तित्थं जइणं—वही गाथा १०४५-१०४६।

१३. मत्स्यपुराण ४/१३/५४

को "निग्गंथ नाथपुत्र—णिग्गंठ णातपुत्त" कहा है।[10] अशोक के शिलालेखों में भी "निग्गंठ" शब्द का प्रयोग हुआ है।[11] भगवान महावीर के पश्चात् आठ गणधरों एव आचार्यों तक "निर्ग्रन्थ" शब्द का मुख्य रूप से प्रचलन रहा। वैदिक ग्रंथो में भी "निर्ग्रथ" शब्द प्रयुक्त हुआ है। सातवीं शताब्दी में बंगाल में निर्ग्रथ सम्प्रदाय बहुत ही प्रभावशाली था।

'जैन धर्म' शब्द का प्रयोग

दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और सूत्रकृतांग प्रभृति आगम साहित्य में जिनशासन, जिनमार्ग, जिनप्रवचन आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। पर "जैन धर्म" शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम विशेषावश्यकभाष्य में हुआ है।[12] जिसका रचनाकाल विक्रम सं० ८४५ है। उसके पश्चात्वर्ती साहित्य में 'जैन धर्म' शब्द का प्रयोग विशेष रूप से हुआ। मत्स्यपुराण[13] में 'जिनधर्म' और

---

१०. (क) दीघनिकाय सामञ्ञफल सुत्त १८-२१
(ख) विनयपिटक महावग्ग पृ० २४२

११. इमे वियापरा हो हंति त्ति निग्गंठेसु पि मे कटे।"
—प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन
द्वि० खण्ड, पृ० १५।

१२. (क) जेणं तित्थं—विशेषावश्यक भाष्य गा० १०४३
(ख) तित्थं जइणं—वही गाथा १०४५-१०४६।

१३. मत्स्यपुराण ४/१३/५४

था। आर्हत सम्प्रदाय को वैदिक काल मे आरण्यक काल तक "वातरशना मुनि" या व्रात्य के रूप में कहा गया है। "व्रात्य" का वास्तविक अर्थ "व्रतो का पालन करने वाले" है। अथर्ववेद मे ब्रह्मचारी, ब्राह्मण, विशिष्ट पुण्यशील, विद्वान, विश्वसम्मान्य व्यक्ति व्रात्य कहलाता था।[4] ऋग्वेद में जिन वातरशना मुनियों का उल्लेख है वे अर्हत होने चाहिए। आचार्य सायण ने इन्हीं वातरशना मुनियों को "अतीन्द्रियार्थदर्शी" बताया है।[5] केशी और मुनि भी व्रात्य ही थे।[6] श्रीमद् भागवत में इन मुनियों के प्रमुख धर्मनेता को ऋषभदेव कहा है, जो नाभि-पुत्र थे।[7] अनेक पुरातात्त्विक प्रमाण भी जैनधर्म और तीर्थकरों की प्राचीनता को सिद्ध करते है।

जैन साहित्य में भी जैन तीर्थकरो के लिए "अर्हत" शब्द का प्रयोग हुआ है[8] और उस अर्हत शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से भगवान पार्श्वनाथ तक चलता रहा। भगवान महावीर के समय "निर्ग्रन्थ" शब्द मुख्य रूप से प्रयुक्त हुआ।[9] बौद्ध साहित्य में भी भगवान महावीर

---

४. अथर्ववेद (सायण भाष्य) १५।१।१।१

५. सायण भाष्य १०, १३६, २

६. ऋग्वेद १०-११-१, ३६-१

७. श्रीमद्भागवत ५-६-२०

८. कल्पसूत्र (देवेन्द्रमुनि संपादित) पृष्ठ १६१-१६२

९. (अ) आचारांग १-३-१-१०८. (आ) भगवती १-६-३८६

को "निर्ग्रंथ नायपुत्र—णिग्गंठ णातपुत्त" कहा है।[10] अशोक के शिलालेखों में भी "निग्गंठ" शब्द का प्रयोग हुआ है।[11] भगवान महावीर के पश्चात् आठ गणधरों एवं आचार्यों तक "निर्ग्रन्थ" शब्द का मुख्य रूप से प्रचलन रहा। वैदिक ग्रंथों में भी "निर्ग्रंथ" शब्द प्रयुक्त हुआ है। सातवीं शताब्दी में बंगाल में निर्ग्रंथ सम्प्रदाय बहुत ही प्रभावशाली था।

'जैन धर्म' शब्द का प्रयोग

दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और सूत्रकृतांग प्रभृति आगम साहित्य में जिनशासन, जिनमार्ग, जिनप्रवचन आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। पर "जैन धर्म" शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम विशेषावश्यकभाष्य में हुआ है।[12] जिसका रचनाकाल विक्रम सं० ८४५ है। उसके पश्चात्वर्ती साहित्य में 'जैन धर्म' शब्द का प्रयोग विशेष रूप से हुआ। मत्स्यपुराण[13] में 'जिनधर्म' और

---

१०. (क) दीघनिकाय सामञ्ञफल सुत्त १८-२१
(ख) विनयपिटक महावग्ग पृ० २४२

११. इमे वियापरा हो हंति त्ति निग्गंठेसु पि मे कटे।"
— प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन द्वि० खण्ड, पृ० १५।

१२. (क) जेणं तित्थं—विशेषावश्यक भाष्य गा० १०४३
(ख) तित्थं जइणं—वही गाथा १०४५-१०४६।

१३. मत्स्यपुराण ४/१३/५४

देवी भागवत[14] में "जैन धर्म" का उल्लेख है। सारांश यह है कि देश, काल की स्थिति के अनुसार शब्दों में परिवर्तन होता रहा है पर शब्दों के परिवर्तन होते रहने पर भी जैन धर्म का आन्तरिक स्वरूप नहीं बदला है। परम्परा की दृष्टि से उसका सम्बन्ध भगवान ऋषभदेव से रहा है। जैसे शिव के नाम पर शैव धर्म, विष्णु के नाम पर वैष्णव धर्म और बुद्ध के नाम पर 'बौद्ध धर्म' प्रचलित हुए हैं वैसे ही जैन धर्म किसी व्यक्ति विशेष के नाम पर प्रचलित नहीं है और न किसी व्यक्ति का पूजक ही है। इसे ऋषभदेव, पार्श्वनाथ और महावीर का धर्म नहीं कहा गया है, यह अर्हतों का धर्म है, आत्मविजय करने वालों का धर्म है, अतः यह जिनधर्म है। जैनधर्म का स्पष्ट अभिमत है कि कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक उत्कर्ष करके मानव से महामानव, आत्मा से परमात्मा और जन से जिन बन सकता है, तीर्थंकर बन सकता है, जिन और केवली बन सकता है।

तीर्थङ्कर

तीर्थंकर—जैनधर्म का प्राचीनतम पारिभाषिक शब्द है। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के लिए भी **'तित्थयर'**

---

१४. गत्वाथ मोहयामास रजिपुत्रान् बृहस्पतिः।
....

जैन धर्म कृत स्वेन यज्ञ निन्दा परं तथा।

—देवी भागवत ४/१३/५८

शब्द प्रयुक्त हुआ है। जैन परम्परा में इस शब्द का प्राधान्य रहने से इसका प्रयोग बौद्ध साहित्य में भी अनेक स्थलों पर हुआ है। तीर्थंकर का अर्थ है जो तीर्थ का कर्त्ता या निर्माता है। जो संसार-समुद्र से पार करने वाले धर्म-तीर्थ की संस्थापना करते हैं वे विशिष्ट व्यक्ति तीर्थंकर कहलाते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये धर्म हैं; इन धर्मों को धारण करनेवाले श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका के इस चतुर्विध संघ को 'धर्म तीर्थ' कहा गया है।[15]

संस्कृत साहित्य में "तीर्थ" शब्द घाट के लिए भी आया है। साथ ही संसार समुद्र से दुःखी प्राणियों को पार उतारने वाले मार्ग को "तीर्थ" कहा गया है।[16] और उसका सरल मार्ग प्रतिपादन करने वाले तीर्थंकर हैं।[17] जैनधर्म की दृष्टि से वे संसार की मोह-माया का परित्याग कर, अखंड आध्यात्मिक साधना में सिद्धि प्राप्त कर निरावरण समग्रज्ञान की उपलब्धि करते हैं फिर

---

१५. (क) भगवती २-८-६८२ (ख) स्थानांग ४/३
(ग) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति—उसहचरियं।

१६. "तरन्ति महार्णवं येन निमित्तेन तत्तीर्थम् ॥"
—युक्त्यनु० टी० ६२

१७. तीर्यते संसार समुद्रोऽनेनेति तीर्थम्,
तत्करणशीलास्तीर्थंकराः
—जीवाभिगम मलयगिरि वृत्ति २-१४२ पृ० २५५

विकारी जीवन से ऊपर उठकर भगवान के अविकारी स्वरूप तक पहुँचना है जहाँ वह पुनः विकार दशा प्राप्त नहीं करता। तीर्थंकर बनने के लिए आन्तरिक शक्तियों का विकास करना परम आवश्यक है। आत्म-शक्तियों का पूर्ण विकास होने पर कोई भी आत्मा सर्वज्ञ, तीर्थ-ङ्कर या जिन बन सकता है।

जैन धर्म का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि आत्म-विकास की दृष्टि से तीर्थङ्कर और सामान्य अरिहन्त या सर्वज्ञ में कोई अन्तर नहीं है; किन्तु तीर्थकरों में बाह्य विशे-षताएँ होती हैं, जो पूर्वजन्म में कृत विशेष तपस्या एवं पूर्वार्जित पुण्यों के कारण प्राप्त होती है। अन्य मुक्त आत्माएँ तीर्थङ्करों के समान धर्म प्रचार नहीं कर सकतीं। एक समय में एक स्थान पर सर्वज्ञ अनेक हो सकते हैं, किन्तु तीर्थङ्कर एक ही होते हैं।

जिनागम की दृष्टि से विश्व परिवर्तनशील है। इसकी उपमा चक्र से दी गई है। इसमें निरन्तर उन्नति-अवनति उत्थान-पतन का क्रम चलता रहता है। इस क्रम को बारह आरों में विभक्त किया गया है। उत्थान को उत्सर्पिणी काल और पतन को अवसर्पिणी काल कहा जाता है। प्रत्येक काल में छः-छः आरे हैं। इन आरों के मध्य में तीर्थङ्कर होते हैं। प्रस्तुत अवसर्पिणी काल में चौबीस तीर्थङ्कर हुए। उनमें सर्वप्रथम तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेव हैं।

हुआ। उनकी निर्वाण-भूमि सम्मेदशिखर[25] है।

तृतीय तीर्थंकर **संभवनाथ** थे। उनका जन्म श्रावस्ती में हुआ। उनके पिता का जितारि और माता का नाम सेनादेवी था। उन्होंने अपने पूर्वभव में विपुल-वाहन राजा के रूप में अकालग्रसित प्रजा के लिए सम्पूर्ण राज्य-कोष दान दिया था। उनका जन्म मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्दशी को और निर्वाण चैत्र शुक्ल पंचमी को हुआ। उनकी निर्वाण-भूमि सम्मेदशिखर है।

चतुर्थ तीर्थंकर अभिनन्दन थे। उनका जन्म अयोध्या मे हुआ। पिता का नाम राजा संवर और माता का नाम सिद्धार्था था। उनका जन्म माघ शुक्ल द्वितीया को और निर्वाण वैशाख शुक्ल अष्टमी को हुआ। उनकी निर्वाण-भूमि सम्मेदशिखर है।

पाँचवें तीर्थंकर **सुमतिनाथ** का जन्म अयोध्या में हुआ। पिता का नाम महाराजा मेघरथ और माता का नाम सुमंगला देवी था। उनका जन्म वैशाख शुक्ल अष्टमी को और निर्वाण चैत्र शुक्ल नवमी को हुआ। जब वे गर्भ में आए तब गर्भ के प्रभाव से माता की बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण हो गई थी, अतः उनका नाम सुमतिनाथ रखा। उनकी निर्वाणभूमि भी सम्मेदशिखर है।

छठें तीर्थंकर **पद्मप्रभ** का जन्म कोशांबी में हुआ।

---

२५. श्वेताम्बर परम्परा में सम्मेतशिखर नाम अधिक प्रसिद्ध है और दिगम्बर परम्परा में सम्मेदशिखर।

पिता का नाम राजा श्रीधर और माता का नाम सुसीमा था। उनका जन्म कार्तिक कृष्ण द्वादशी को और निर्वाण माघ कृष्णा एकादशी को हुआ। निर्वाणभूमि सम्मेद-शिखर है।

सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का जन्म काशी में हुआ। उनके पिता का नाम राजा प्रतिष्ठ और माता का नाम पृथ्वी था। उनका जन्म ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी को और निर्वाण भाद्रपद कृष्ण सप्तमी को हुआ। निर्वाण भूमि सम्मेदशिखर है।

आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का जन्म चन्द्रपुरी नगरी में हुआ। उनके पिता का नाम महासेन और माता का नाम लक्ष्मणा था। उनका जन्म पौष शुक्ला द्वादशी को और निर्वाण भाद्रपद कृष्ण सप्तमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेदशिखर है।

नौवें तीर्थंकर सुविधिनाथ का जन्म काकंदी नगरी में हुआ। उनके पिता का नाम राजा सुग्रीव और माता का नाम रामादेवी था। उनका जन्म मार्गशीर्ष कृष्णा पंचमी को और निर्वाण भाद्रपद शुक्ल नवमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेदशिखर है।

दसवें तीर्थङ्कर शीतलनाथ का जन्म भद्दिलपुर नगरी में हुआ। उनके पिता का नाम राजा दृढ़रथ और माता का नाम नन्दारानी था। आपका जन्म माघ कृष्ण द्वादशी को और निर्वाण वैशाख कृष्ण द्वितीया को हुआ। निर्वाणभूमि सम्मेदशिखर है।

हुआ। उनकी निर्वाण-भूमि सम्मेदशिखर[२५] है।

तृतीय तीर्थंकर **संभवनाथ** थे। उनका जन्म श्रावस्ती में हुआ। उनके पिता का जितारि और माता का नाम सेनादेवी था। उन्होंने अपने पूर्वभव में विपुलवाहन राजा के रूप में अकालग्रसित प्रजा के लिए सम्पूर्ण राज्य-कोष दान दिया था। उनका जन्म मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्दशी को और निर्वाण चैत्र शुक्ल पंचमी को हुआ। उनकी निर्वाण-भूमि सम्मेदशिखर है।

चतुर्थ तीर्थंकर **अभिनन्दन** थे। उनका जन्म अयोध्या में हुआ। पिता का नाम राजा संवर और माता का नाम सिद्धार्था था। उनका जन्म माघ शुक्ल द्वितीया को और निर्वाण वैशाख शुक्ल अष्टमी को हुआ। उनकी निर्वाण-भूमि सम्मेदशिखर है।

पाँचवें तीर्थंकर **सुमतिनाथ** का जन्म अयोध्या में हुआ। पिता का नाम महाराजा मेघरथ और माता का नाम सुमंगला देवी था। उनका जन्म वैशाख शुक्ल अष्टमी को और निर्वाण चैत्र शुक्ल नवमी को हुआ। जब वे गर्भ में आए तब गर्भ के प्रभाव से माता की बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण हो गई थी, अतः उनका नाम सुमतिनाथ रखा। उनकी निर्वाणभूमि भी सम्मेदशिखर है।

छठें तीर्थंकर **पद्मप्रभ** का जन्म कोशांबी में हुआ।

---

२५. श्वेताम्बर परम्परा में सम्मेतशिखर नाम अधिक प्रसिद्ध है और दिगम्बर परम्परा में सम्मेदशिखर।

पिता का नाम राजा श्रीधर और माता का नाम सुसीमा था। उनका जन्म कार्तिक कृष्ण द्वादशी को और निर्वाण माघ कृष्णा एकादशी को हुआ। निर्वाणभूमि सम्मेद-शिखर है।

सातवें तीर्थंकर **सुपार्श्वनाथ** का जन्म काशी मे हुआ। उनके पिता का नाम राजा प्रतिष्ठ और माता का नाम पृथ्वी था। उनका जन्म ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी को और निर्वाण भाद्रपद कृष्ण सप्तमी को हुआ। निर्वाण भूमि सम्मेदशिखर है।

आठवें तीर्थंकर **चन्द्रप्रभ** का जन्म चन्द्रपुरी नगरी में हुआ। उनके पिता का नाम महासेन और माता का नाम लक्ष्मणा था। उनका जन्म पौष शुक्ला द्वादशी को और निर्वाण भाद्रपद कृष्ण सप्तमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेदशिखर है।

नौवें तीर्थंकर **सुविधिनाथ** का जन्म काकंदी नगरी में हुआ। उनके पिता का नाम राजा सुग्रीव और माता का नाम रामादेवी था। उनका जन्म मार्गशीर्ष कृष्णा पंचमी को और निर्वाण भाद्रपद शुक्ल नवमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेदशिखर है।

दसवें तीर्थङ्कर **शीतलनाथ** का जन्म भद्दिलपुर नगरी में हुआ। उनके पिता का नाम राजा दृढ़रथ और माता का नाम नन्दारानी था। आपका जन्म माघ कृष्ण द्वादशी को और निर्वाण वैशाख कृष्ण द्वितीया को हुआ। निर्वाणभूमि सम्मेदशिखर है।

ग्यारहवें तीर्थङ्कर **श्रेयांसनाथ** का जन्म सिंहलपुर में हुआ। आपके पिता का नाम विष्णुसेन और माता का नाम विष्णादेवी था। आपका जन्म फाल्गुण कृष्ण द्वादशी को और निर्वाण श्रावण कृष्णा द्वितीया को हुआ। निर्वाणभूमि सम्मेदशिखर है।

बारहवें तीर्थंकर **वासुपूज्य** का जन्म चम्पानगरी में हुआ। उनके पिता का नाम वसुपूज्य और माता का नाम जयादेवी था। आपका जन्म माघ कृष्ण तृतीया को और निर्वाण आषाढ कृष्ण सप्तमी को हुआ। निर्वाणभूमि सम्मेदशिखर है।

तेरहवें तीर्थङ्कर **विमलनाथ** का जन्म कंपिलपुर में हुआ। उनके पिता का नाम कर्तृवर्म और माता का नाम श्यामा देवी था। आपका जन्म माघ शुक्ल तृतीया को और निर्वाण आषाढ कृष्ण सप्तमी को हुआ। निर्वाणभूमि सम्मेदशिखर है।

चौदहवें तीर्थंकर **अनन्तनाथ** का जन्म अयोध्या नगरी में हुआ। उनके पिता का नाम सिंहसेन और माता का नाम सुयशा था। आपका जन्म वैशाख कृष्ण तृतीया को और निर्वाण चैत्र शुक्ल पंचमी को हुआ। निर्वाणभूमि सम्मेदशिखर है।

पन्द्रहवें तीर्थंकर **धर्मनाथ** का जन्म रत्नपुर में हुआ। उनके पिता का नाम भानुराजा, माता का नाम सुव्रता था। जन्म माघ कृष्णा तृतीया को और निर्वाण ज्येष्ठ शुक्लपंचमी को हुआ। निर्वाण भूमि सम्मेदशिखर है।

सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ थे। उनका जन्म हस्तिनापुर में हुआ। उनके पिता का नाम विश्वसेन और माता का नाम अचिरा था। आपका जन्म और निर्वाण ज्येष्ठ कृष्ण त्रयोदशी को हुआ। सम्मेद-शिखर आपकी निर्वाणभूमि है। शांतिनाथ जहाँ तीर्थंकर थे वहाँ पर वे चक्रवर्ती सम्राट् भी थे। उन्होंने पूर्वभव में राजा मेघरथ के रूप में कबूतर की रक्षा के लिए उसके बदले में अपने शरीर का मांस काट कर दिया था। आपके गर्भ में आने के पूर्व देश में भयंकर महामारी का प्रकोप था। पर आपके दिव्य प्रभाव से वह रोग मिट गया जिससे आपका नाम शांतिनाथ रखा गया।

सत्रहवें तीर्थंकर कुन्थुनाथ थे। उनकी जन्मस्थली हस्तिनापुर थी। उनके पिता का नाम सुरराजा और माता का नाम श्रीदेवी था। आपका जन्म वैशाख कृष्ण चतुर्दशी को और निर्वाण वैशाख कृष्ण प्रतिपदा को हुआ। आप छठे चक्रवर्ती सम्राट् भी थे। आपकी निर्वाणभूमि सम्मेदशिखर है।

अठारहवें तीर्थंकर का नाम अरनाथ था। आपका जन्म हस्तिनापुर में हुआ। आपके पिता का नाम सुदर्शन और माता का नाम श्रीदेवी था। आपका जन्म और निर्वाण मार्गशीर्ष शुक्ल दशमी को हुआ। आप तीर्थंकर के साथ ही सातवें चक्रवर्ती सम्राट् भी थे। आपकी निर्वाणभूमि सम्मेदशिखर है।

उन्नीसवे तीर्थंकर का नाम **मल्लि भगवती** था। आपका जन्म स्थान मिथिला नगरी था। आपके पिता का नाम कुम्भराजा और माता का नाम प्रभावती था। आपका जन्म मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी को हुआ और फाल्गुन शुक्ल द्वादशी को आपका निर्वाण सम्मेदशिखर पर हुआ। वर्तमान चौवीस तीर्थंकरों में आप महिला तीर्थंकर हैं।[२५]

वीसवें तीर्थंकर का नाम **मुनिसुव्रत** था। आपकी जन्मभूमि राजगृह नगरी थी। आपके पिता का नाम राजा सुमित्र और माता का नाम पद्मावती था। आपका जन्म ज्येष्ठ कृष्ण अष्टमी को और निर्वाण ज्येष्ठ कृष्ण नवमी को हुआ। आपकी निर्वाण भूमि सम्मेदशिखर है।

इक्कीसवें तीर्थंकर का नाम **नमिनाथ** था। आपकी जन्मभूमि मिथिला थी। आपके पिता का नाम विजयसेन और माता का नाम वप्रादेवी था। आपका जन्म श्रावण कृष्ण अष्टमी को तथा निर्वाण वैशाख कृष्ण दशमी को हुआ। निर्वाणभूमि सम्मेदशिखर है।

बाईसवें तीर्थंकर का नाम **नेमिनाथ** था। आपका अपर नाम **अरिष्टनेमि** भी था। आपका जन्म आगरा के सन्निकट शौरिपुर नगर में हुआ था। आपके

---

२५. श्वेताम्बर परम्परा आपको महिला तीर्थंकर मानती है और दिगम्बर परम्परा पुरुष। 'मल्लि' नाम दोनों परम्पराओं में समान रूप से गृहीत है।

पिता का नाम समुद्रविजय और माता का नाम शिवा-देवी था। आपका जन्म श्रावण शुक्ल पचमी को और निर्वाण आषाढ़ शुक्ल अष्टमी को हुआ था। आपका निर्वाण सौराष्ट्र में गिरनार पर्वत पर हुआ था जिसे रेवतगिरि भी कहते हैं। कर्मयोगी श्रीकृष्ण आपके चचेरे भाई थे। आपके उपदेशों से वासुदेव श्रीकृष्ण बहुत प्रभावित थे। जब आप गृहस्थाश्रम में थे, उस समय आपका पाणिग्रहण महाराजा उग्रसेन की सुपुत्री राजमती के साथ निश्चित हुआ था। किन्तु विवाह के अवसर पर बरातियों के भोजन के लिए पशुवध देखकर आपका हृदय दया से द्रवित हो उठा। आपने सोचा मेरे विवाहोपलक्ष्य में यह पशु-संहार होगा तो मुझे विवाह ही नही करना है, अतः बिना विवाह किए ही तोरण से वापस लौट गये और दीक्षा ग्रहण की। जैन आगम साहित्य में भगवान अरिष्टनेमि के जीवन-प्रसंगों का विस्तार से निरूपण है। महाभारत[२६] और वेदों[२७] में उनके नाम का उल्लेख मिलता है।

---

२६. महाभारत वनपर्व १८४/८; शांतिपर्व २८८; ५-४६

२७. ऋग्वेद १/१४/८९/६; १/२४/१८०/१०; ३/४/५३/१७/; १०/१२/१७८/१; यजुर्वेद २५/१०; सामवेद ३/८

विस्तृत परिचय के लिए देखें—लेखक का ग्रन्थ "भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण : एक अनुशीलन"।

पिता का नाम समुद्रविजय और माता का नाम शिवादेवी था। आपका जन्म श्रावण शुक्ल पचमी को और निर्वाण आषाढ़ शुक्ल अष्टमी को हुआ था। आपका निर्वाण सौराष्ट्र में गिरनार पर्वत पर हुआ था जिसे रेवतगिरि भी कहते हैं। कर्मयोगी श्रीकृष्ण आपके चचेरे भाई थे। आपके उपदेशों से वासुदेव श्रीकृष्ण बहुत प्रभावित थे। जब आप गृहस्थाश्रम में थे, उस समय आपका पाणिग्रहण महाराजा उग्रसेन की सुपुत्री राजमती के साथ निश्चित हुआ था। किन्तु विवाह के अवसर पर बरातियों के भोजन के लिए पशुवध देखकर आपका हृदय दया से द्रवित हो उठा। आपने सोचा मेरे विवाहोपलक्ष्य में यह पशु-संहार होगा तो मुझे विवाह ही नहीं करना है, अतः बिना विवाह किए ही तोरण से वापस लौट गये और दीक्षा ग्रहण की। जैन आगम साहित्य में भगवान अरिष्टनेमि के जीवन-प्रसंगों का विस्तार से निरूपण है। महाभारत[२६] और वेदों[२७] में उनके नाम का उल्लेख मिलता है।

---

२६. महाभारत वनपर्व १८४/८; शांतिपर्व २८८; ५-४६

२७. ऋग्वेद १/१४/८९/६; १/२४/१८०/१०; ३/४/५३/१७; १०/१२/१७८/१; यजुर्वेद २५/१०; सामवेद ३/८

विस्तृत परिचय के लिए देखें—लेखक का ग्रन्थ "भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण : एक अनुशीलन"।

निर्वाणभूमि पावा थी। आपका जन्म ई० पू० ५९९ को तथा निर्वाण ई० पू० ५२७ को हुआ। भगवान महावीर के समय हिंसामय यज्ञों का प्राधान्य था। नारी जाति की दयनीय स्थिति थी। एकान्तवाद का बोलबाला था। जातिवाद की प्रधानता थी। भगवान महावीर ने अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त का प्रचार किया। नारी जाति को साध्वी और श्राविका के रूप में अध्यात्म क्षेत्र में गौरवपूर्ण स्थान दिया। हरिकेशी आदि चाण्डाल तथा आर्य-अनार्य, ब्राह्मण-शूद्र भी उनके धर्म संघ में दीक्षित हुए। उस युग के आठ तेजस्वी सम्राटों ने भगवान महावीर के पास श्रमण धर्म ग्रहण किया। अनेक राजा भगवान महावीर के अनुयायी थे।

महावीर तीस वर्ष गृहस्थाश्रम में रहे। साढ़े बारह वर्ष छद्मस्थ रहे। उन्होंने तीस वर्ष तक तीर्थंकर के रूप में रहकर धर्म का प्रचार किया। अन्त में पावापुरी में कार्तिक अमावस्या की रात्रि में परिनिर्वाण को प्राप्त किया। उस समय नौ मल्लि और नौ लिच्छवी ये अठारह गण राजा उपस्थित थे। उन्होंने अमावस की रात में दीपमालाएँ जलाकर ज्योति की, देवताओं ने भी रत्न-ज्योति से धरा को आलोकित किया तभी से दीपावली पर्व का प्रारम्भ माना जाता है।

बौद्ध साहित्य में भी महावीर के सम्बन्ध में अनेक उल्लेख मिलते हैं। महावीर बुद्ध के समकालीन थे।

महावीर के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम थे। वे महान् प्रतिभासम्पन्न थे। जो स्थान उपनिषद में उद्दालक के समक्ष श्वेतकेतु का है, गीता में कृष्ण के समक्ष अर्जुन का है, बुद्ध के समक्ष आनन्द का है, वही स्थान महावीर के समक्ष इन्द्रभूति गौतम का है। वे महान् जिज्ञासु थे। उन्होंने हजारों प्रश्न किये, जिनका अनेकान्त शैली से महावीर ने उत्तर प्रदान किया था।

भ० महावीर के पश्चात्—

भ० महावीर के पश्चात् आर्य सुधर्मा उनके पट्ट पर आसीन हुए और उनके पश्चात् आर्य जम्बू स्वामी पट्टधर बने। आर्य जम्बू का जीवन बड़ा ही अनूठा और प्रेरणाप्रद रहा, जो उनके त्याग, वैराग्य की गौरव-गाथा को जन-मानस के सामने प्रस्तुत करता है। वह वर्तमान अवसर्पिणी काल के अन्तिम केवली थे। उनके बाद कोई केवलज्ञानी नहीं हुआ। यहाँ तक प्रवर्तित आचार और विचार की सहज निर्मलता काल-प्रभाव से शनैः-शनैः क्षीण होने लगी। उनके पश्चात् दस बातें विच्छिन्न हो गईं—(१) मनःपर्यवज्ञान (२) परमावधि ज्ञान (३) पुलाकलब्धि (४) आहारक शरीर (५) क्षपक श्रेणी (६) उपशम श्रेणी (७) जिनकल्प (८) संयमत्रिक (परिहारविशुद्धि चारित्र, सूक्ष्मसंपराय चारित्र, यथाख्यात चारित्र) (९) केवलज्ञान और (१०) सिद्ध पद।

भ० महावीर के समय अचेल (वस्त्र-रहित) और सचेल (वस्त्र सहित) ये दोनों ही परम्पराएँ थीं। सचेल के लिए

आचार्य मलयगिरि, आचार्य अभयदेव, उपाध्याय यशोविजय, आचार्य समयसुन्दर, आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य समन्तभद्र, आचार्य जिनसेन, आचार्य यति-वृषभ, आचार्य शुभचंद्र, नेमीचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती, अकलंक देव, विद्यानन्द, पूज्यपाद आदि अनेक विद्वान, प्रभावक और अध्यात्मयोगी आचार्यों के नाम उल्लेखनीय हैं।

सोलहवीं शताब्दी में धर्मप्राण वीर लोकाशाह ने मूर्तिपूजा के विरोध में क्रांति की। साथ ही आचार की कठोरता व दृढ़ता पर अत्यधिक बल दिया। वि० सं० १६६६ में आचार्य जीवराजजी महाराज ने सर्वप्रथम पोपाड़ में क्रियोद्धार किया। उसके पश्चात् लवजी ऋषि जी महाराज, धर्मसिंह जी महाराज और धर्मदास जी महाराज ने क्रियोद्धार किया। ये सभी स्थानकवासी परम्परा के आद्य आचार्य रहे। स्थानकवासी सम्प्रदाय ने एक विशुद्ध आडम्बर रहित, आरंभ-परिग्रह-रहित धार्मिक और आध्यात्मिक साधना पर बल दिया। इस सम्प्रदाय में अनेक ज्योतिर्धर आचार्य हुए। अनेक साहित्यकार मनीषी मुनिराज भी हुए। वर्तमान में स्थानकवासी विविध सम्प्रदायों ने मिलकर एक संगठन बनाया जो "वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ" के नाम से विश्रुत है। इसके प्रथम आचार्य आत्माराम जी महाराज थे और सम्प्रति राष्ट्रसंत आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज हैं।

स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्य रघुनाथ जी महाराज के एक शिष्य भीखणजी थे। आचार-विचार-गत मतभेद से उन्होंने अठारहवीं शताब्दी में "तेरा पंथ" सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया जिसके वर्तमान आचार्य तुलसी जी हैं।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में भी अनेक प्रभावशाली आचार्य वर्तमान में हैं।

इस प्रकार जैन धर्म भगवान ऋषभदेव से लेकर वर्तमान युग तक अखण्ड रूप से चल रहा है। वर्तमान में श्वेताम्बर और दिगम्बर ये दो मुख्य रूप हैं। श्वेताम्बरों में मूर्तिपूजक, स्थानकवासी और तेरापंथी ये तीन भेद हैं। मूर्तिपूजकों में मूर्तिपूजा का विधान है और अन्य दो अमूर्तिपूजक हैं। दिगम्बरों में मूल संघ में सात गण विकसित हुए—देवगण, सेनगण, देशीगण, सुरस्थगण, बलात्कारगण, कालूरगण और निगमान्वय-गण। यापनीयसंघ, द्राविडसंघ, काष्ठासंघ, माथुरसंघ, तेरहपन्थ, बीसपन्थ और तारणपन्थ आदि हैं।[33] दिगम्बरों में भी कुछ मूर्तिपूजक हैं और कुछ अमूर्तिपूजक।

जैन धर्म विविध शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त होने पर भी सभी ने नमस्कार महामन्त्र, चौबीस तीर्थंकर, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि षट्द्रव्य,

---

३३. "दक्षिण भारत में जैन धर्म"—पृ० १७३-८२

'जिन" है, वही "वीतराग" है, उसे "अरिहन्त" भी कहते हैं। अर्हत् का अर्थ पूज्य है। उन्हें भगवान और परमात्मा भी कहते हैं। वही "देव" है।

जैन धर्म ने "गुरु" उसे माना जिसका आध्यात्मिक उत्कर्ष हो, जिसके जीवन में सद्‌गुणों का प्राधान्य हो और जो साम्यभाव के द्वारा वीतरागता को प्रकाशित करता हो।

जैन धर्म का मन्तव्य है कि "धर्म" आत्मा का दिव्य प्रकाश है, वह बाहर नहीं अन्दर है जो दुःख से, दुर्गति से, पापाचार और पतन से बचाकर ऊँचा उठाता है।

जैन धर्म निर्ग्रन्थ धर्म है, अर्हत् धर्म है स्याद्वाद धर्म है और अहिंसा धर्म है। जैन धर्म का पालन किसी भी जाति का और किसी भी देश का व्यक्ति कर सकता है, भले ही वह हिन्दू हो, मुसलमान हो, ईसाई हो, ब्राह्मण हो या चंडाल हो। जिसके मन में सत्य, अहिंसा आदि तत्त्वों के प्रति सच्ची आस्था हो, वह जैन धर्म का उपासक बन सकता है।

संक्षेप में जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

(१) लोक अनादि और अनन्त है।
(२) आत्मा अजर अमर अनन्त व चैतन्य स्वरूप है।
(३) आत्मा स्व-कृत कार्यों के अनुसार जन्म-मरण करता है।
(४) आत्मा ही परमात्मा बन सकता है।
(५) आत्मा की अशुद्ध स्थिति संसार और शुद्ध स्थिति मोक्ष है।

(६) आत्मा की अशुभ प्रवृत्ति पाप और शुभ प्रवृत्ति पुण्य है।

(७) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, निर्लोभता आदि का शुद्ध आचरण ही धर्म है।

(८) धर्म साधना में जाति-पाँति, लिंग आदि का कोई भेद नहीं रहता।

दर्शन की विशुद्धि होने पर अज्ञान ज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है और इस प्रकार वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानना सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यक् चारित्र की नितान्त आवश्यकता है। भारतीय दर्शनों में न्याय, सांख्य, वेदान्त आदि दर्शन ज्ञान मात्र से मोक्ष स्वीकार करते हैं और मीमांसक आदि दर्शन आचार से मोक्ष मानता है। किन्तु जैन दर्शन ज्ञान और क्रिया से मोक्ष स्वीकार करता है। आध्यात्मिक जीवन यात्रा के लिए ज्ञान नेत्र है और चारित्र चरण है।

जैन धर्म में चारित्र के दो भेद किये हैं—देश और सर्व। जो अपूर्ण रूप से त्याग ग्रहण किया जाता है वह **देश-चारित्र** है और पूर्ण रूप से त्याग ग्रहण करना **सर्व-चारित्र** है। देश चारित्र को ग्रहण करने वाला 'श्रावक' है और सर्व चारित्र को ग्रहण करने वाला 'श्रमण' कहलाता है।

श्रावक धर्म—सद्गृहस्थ की भूमिका—

श्रावक बनने के पूर्व गृहस्थ को निम्नलिखित सात

व्यसनों का परित्याग करना आवश्यक है—(१) जुआ (२) मांस (३) शराब (४) वेश्यागमन (५) परस्त्रीगमन (६) शिकार और (७) चोरी।

उपर्युक्त सात व्यसनों का परित्याग करने के अतिरिक्त उसको ३५ मार्गानुसारी गुणों को भी धारण करना आवश्यक है—

(१) वह न्याय-नीति से धन उपार्जन करने वाला हो।

(२) शिष्ट पुरुषों के आचार को प्रशंसा करने वाला हो।

(३) अपने कुल और शील में समान, भिन्न गोत्र-वालों के साथ विवाह सम्बन्ध करने वाला हो।

(४) पापों से डरने वाला हो।

(५) वह प्रसिद्ध या सर्वसम्मत देशाचार का पालन करे।

(६) किसी की, और विशेष रूप से राजा आदि की, निन्दा न करे।

(७) ऐसे स्थान पर घर बनाये जो न एकदम खुला हो और न एकदम गुप्त हो।

(८) घर में बाहर निकलने के अनेक द्वार न हों।

(९) सदाचारी पुरुषों की संगति करता हो।

(१०) माता-पिता की सेवा-भक्ति करे।

(११) रगड़े-झगड़े और बखेड़े पैदा करने वाली

जगह से दूर रहे, अर्थात् चित्त में क्षोभ उत्पन्न करने वाले स्थान में न रहे।

(१२) किसी भी निन्दनीय कार्य में प्रवृत्ति न करे।

(१३) आय के अनुसार व्यय करे।

(१४) अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार वस्त्र पहने।

(१५) बुद्धि के आठ गुणों से युक्त होकर प्रतिदिन धर्म-श्रवण करे।

(१६) अजीर्ण होने पर भोजन न करे।

(१७) धर्म के साथ अर्थ-पुरुषार्थ, काम-पुरुषार्थ और मोक्ष-पुरुषार्थ का इस प्रकार सेवन करे कि कोई किसी का बाधक न हो।

(१८) नियत समय पर सन्तोष के साथ भोजन करे।

(१९) अतिथि, साधु और दीन-असहाय जनों का यथायोग्य सत्कार करे।

(२०) कभी दुराग्रह के वशीभूत न हो।

(२१) गुणों का पक्षपाती हो, जहाँ कहीं गुण दिखाई दें उन्हें ग्रहण करे और उनकी प्रशंसा करे।

(२२) देश और काल के प्रतिकूल आचरण न करे।

(२३) अपनी शक्ति और अशक्ति को समझे। अपनी सामर्थ्य का विचार करके ही किसी

व्यसनों का परित्याग करना आवश्यक है—(१) जुआ (२) मांस (३) शराब (४) वेश्यागमन (५) परस्त्रीगमन (६) शिकार और (७) चोरी।

उपर्युक्त सात व्यसनों का परित्याग करने के अतिरिक्त उनको ३५ मार्गानुसारी गुणों को भी धारण करना आवश्यक है—

(१) वह न्याय-नीति से धन उपार्जन करने वाला हो।
(२) शिष्ट पुरुषों के आचार की प्रशंसा करने वाला हो।
(३) अपने कुल और शील में समान, भिन्न गोत्र-वालों के साथ विवाह सम्बन्ध करने वाला हो।
(४) पापों से डरने वाला हो।
(५) वह प्रसिद्ध या सर्वसम्मत देशाचार का पालन करे।
(६) किसी की, और विशेष रूप से राजा आदि की, निन्दा न करे।
(७) ऐसे स्थान पर घर बनाये जो न एकदम खुला हो और न एकदम गुप्त हो।
(८) घर में बाहर निकलने के अनेक द्वार न हों।
(९) सदाचारी पुरुषों की संगति करता हो।
(१०) माता-पिता की सेवा-भक्ति करे।
(११) रगड़े-झगड़े और बखेड़े पैदा करने वाली

जगह से दूर रहे, अर्थात् चित्त में क्षोभ उत्पन्न करने वाले स्थान में न रहे।

(१२) किसी भी निन्दनीय कार्य में प्रवृत्ति न करे।

(१३) आय के अनुसार व्यय करे।

(१४) अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार वस्त्र पहने।

(१५) बुद्धि के आठ गुणों से युक्त होकर प्रतिदिन धर्म-श्रवण करे।

(१६) अजीर्ण होने पर भोजन न करे।

(१७) धर्म के साथ अर्थ-पुरुषार्थ, काम-पुरुषार्थ और मोक्ष-पुरुषार्थ का इस प्रकार सेवन करे कि कोई किसी का बाधक न हो।

(१८) नियत समय पर सन्तोष के साथ भोजन करे।

(१९) अतिथि, साधु और दीन-असहाय जनों का यथायोग्य सत्कार करे।

(२०) कभी दुराग्रह के वशीभूत न हो।

(२१) गुणों का पक्षपाती हो, जहाँ कहीं गुण दिखाई दें उन्हें ग्रहण करे और उनकी प्रशंसा करे।

(२२) देश और काल के प्रतिकूल आचरण न करे।

(२३) अपनी शक्ति और अशक्ति को समझे। अपनी सामर्थ्य का विचार करके ही किसी

इन ३५ गुणों की नींव पर ही श्रावकधर्म का भव्य भवन खड़ा हो सकता है। इन्हें मार्गानुसारी कहने का तात्पर्य यह है कि इन गुणों के कारण व्यक्ति धर्म-मार्ग का अनुसरण करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है।

श्रावक के **बारह व्रत** हैं। उनमें प्रथम पांच को **अणुव्रत** कहते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—

(i) **स्थूल प्राणातिपात विरमण**—स्थूल हिंसा से विरति।

(ii) **स्थूल मृषावाद विरमण**—स्थूल असत्य का वर्जन।

(iii) **स्थूल अदत्तादान विरमण**—स्थूल चोरी का परित्याग करना।

(iv) **स्वदार-सन्तोष**—परस्त्री का त्याग करना।

(v) **इच्छा-परिमाण**—परिग्रह की मर्यादा करना।

पाँच अणुव्रतों के साथ तीन **गुणव्रत** का भी पालन किया जाता है। वे ये हैं—

(i) **दिशा-परिमाण व्रत**—दिशाओं में गमन आदि का परिमाण करना।

(ii) **उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत**—वस्तुओं के व्यवहार की मर्यादा करना जिससे जीवन में सादगी आती है।

(iii) **अनर्थदण्ड-विरमण**—विना प्रयोजन हिंसा करने का त्याग करना।

कार्य में हाथ डाले, सामर्थ्य से बाहर होने पर हाथ न डाले।

(२४) सदाचारी पुरुषों की तथा अपने से अधिक ज्ञानवान पुरुषो की विनय-भक्ति करे।

(२५) जिनके पालन-पोषण करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर हो, उनका पालन-पोषण करे।

(२६) दीर्घदर्शी हो, अर्थात् आगे-पीछे का विचार करके कार्य करे।

(२७) अपने हित-अहित को समझे, भलाई-बुराई को समझे।

(२८) लोकप्रिय हो अर्थात् अपने सदाचार एवं सेवा-कार्य द्वारा जनता का प्रेम सम्पादित करे।

(२९) कृतज्ञ हो, अर्थात् अपने प्रति किये हुए उपकार को नम्रतापूर्वक स्वीकार करे।

(३०) लज्जाशील हो, अर्थात् अनुचित कार्य करने में लज्जा का अनुभव करे।

(३१) दयावान हो।

(३२) सौम्य हो, चेहरे पर शांति और प्रसन्नता झलकती हो।

(३३) परोपकार करने में उद्यत रहे। दूसरों की सेवा करने का अवसर आने पर पीछे न हटे।

(३४) काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य इन आन्तरिक ६ शत्रुओं को जीतने वाला हो।

(३५) इन्द्रियों को अपने वश में रखे।

इन ३५ गुणों की नींव पर ही श्रावकधर्म का भव्य भवन खड़ा हो सकता है। इन्हें मार्गानुसारी कहने का तात्पर्य यह है कि इन गुणों के कारण व्यक्ति धर्म-मार्ग का अनुसरण करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है।

श्रावक के बारह व्रत हैं। उनमें प्रथम पांच को **अणुव्रत** कहते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—

(i) **स्थूल प्राणातिपात विरमण**—स्थूल हिंसा से विरति।

(ii) **स्थूल मृषावाद विरमण**—स्थूल असत्य का वर्जन।

(iii) **स्थूल अदत्तादान विरमण**—स्थूल चोरी का परित्याग करना।

(iv) **स्वदार-सन्तोष**—परस्त्री का त्याग करना।

(v) **इच्छा-परिमाण**—परिग्रह की मर्यादा करना।

पाँच अणुव्रतों के साथ तीन **गुणव्रत** का भी पालन किया जाता है। वे ये हैं—

(i) **दिशा-परिमाण व्रत**—दिशाओं में गमन आदि का परिमाण करना।

(ii) **उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत**—वस्तुओं के व्यवहार की मर्यादा करना जिससे जीवन में सादगी आती है।

(iii) **अनर्थदण्ड-विरमण**—बिना प्रयोजन हिंसा करने का त्याग करना।

ये तीनों गुणव्रत, अणुव्रत रूपी मूल गुणों की रक्षा व विकास करते हैं।

तीन गुणव्रत के पश्चात् चार शिक्षा-व्रतों का भी श्रावक पालन करता है। अणुव्रत और गुणव्रत जीवन में एक बार ग्रहण किये जाते हैं, किन्तु शिक्षाव्रत पुनः पुनः ग्रहण किये जाते हैं, जो कुछ समय के लिए होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(i) **सामायिक व्रत**—जिस साधना से समभाव की वृद्धि हो। सावद्ययोग से निवृत्त होकर निरवद्ययोग में प्रवृत्ति हो।

(ii) **देशावकाशिक व्रत**—कुछ समय के लिए अहिंसा आदि व्रतों की विशिष्ट साधना करना।

(iii) **पौषधोपवास व्रत**—एक दिन रात तक धर्म-स्थान में निवास करते हुए उपवास करना।

(iv) **अतिथि-संविभाग व्रत**—अतिथि (सदाचारी पुरुष) के लिए अपने निमित्त बनाई हुई या अपने अधिकार की वस्तु का समुचित विभाग करना। प्राप्त वस्तुओं का स्वार्थ बुद्धि से अकेला उपभोग करना अनुचित है, उस पाप के प्रक्षालन के लिए प्रस्तुत व्रत का विधान है।

श्रावक का गृह-द्वार जन सेवा के लिए सदा खुला रहता है। ये बारह व्रत जीवन में सादगी, संयम की

प्ररणा देते हैं। इनका मूल उद्देश्य है व्यक्ति घर व परिवार के साथ रहकर भी पवित्र धर्म-मय व त्याग-मूलक जीवन जी सके। इन व्रतों का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव है। इन व्रतों को धारण करने से सामाजिक जीवन भी सुखमय होता है। बारह व्रतों के अतिचारों पर चिन्तन करने से यह स्पष्ट होता है कि ये सारे व्रत सामाजिक जीवन की उच्चता व निर्मलता के लिए आधार स्तम्भ हैं। इन व्रतों से व्यक्ति-गत जीवन के साथ सामाजिक जीवन भी सुधरता है। क्योंकि व्रत ग्रहण करने वाला श्रावक किसी के साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार नहीं कर सकता। जो उसके अधीन व्यक्ति हैं, उनसे वह उतना ही कार्य लेता है जिससे उसके जीवन में अधिक कष्टों का अनुभव न हो। वह अनुचरों व आश्रितों के भक्त-पान का विच्छेद नहीं करता, किसी की भी विवशता का अनुचित लाभ नहीं उठाता, किसी के मर्म का उद्घाटन नहीं करता, झूठे दस्तावेज या लेख नहीं लिखाता, किसी पर मिथ्या आरोप नहीं लगाता, चुराई हुई वस्तु को नहीं लेता, राष्ट्रीय हितों का पूर्ण ध्यान रखता है, कूट-तोल, कूट-माप नहीं करता, यथाशक्ति ब्रह्मचर्य की साधना करता है, तथा अति और अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह नहीं करता, अनावश्यक उपभोग-परिभोग में आने वाले पदार्थों का नियन्त्रण करता है, फिजूलखर्ची आदि से बचकर संयमी और समत्वमय जीवन जीने का अभ्यास करता है, दान

श्रमण के लिए पांच महाव्रत के साथ पांच **समिति** और तीन **गुप्ति** का भी पालन करना आवश्यक है। समिति का अर्थ विवेकयुक्त प्रवृत्ति है। गुप्ति का अर्थ इन्द्रियों का गोपन है। अपने विशुद्ध आत्म-तत्त्व की रक्षा के लिए अशुभ योगों को रोकना गुप्ति है।

समिति के पांच प्रकार ये हैं—

(१) **ईर्यासमिति**—अपने शरीर परिमाण-भूमि को सावधानीपूर्वक देखते हुए, जीवों को बचाते हुए यत्न-पूर्वक गमनागमन करना।

(२) **भाषा समिति**—आवश्यकता होने पर भाषा के दोषों का परिहार करते हुए यत्नपूर्वक हित, मित, सत्य एवं स्पष्ट वचन कहना।

(३) **एषणा समिति**—भिक्षाचरी के बयालीस दोषों से रहित शुद्ध आहार, पानी, वस्त्र, पात्र आदि ग्रहण करना।

(४) **आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समिति**—वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि उपकरणों को उपयोगपूर्वक ग्रहण करना और जीवरहित प्रमार्जित भूमि पर निक्षेपण करना।

(५) **परिष्ठापनिका समिति**—मल, मूत्र आदि वस्तुओं को ऐसे एकान्त स्थंडिल भूमि पर परठना, जहाँ जीवों की उत्पत्ति न हो।

गुप्ति मानसिक, वाचिक और शारीरिक प्रवृत्ति का निरोध है।

श्रमण की दिनचर्या—

प्रातः ब्राह्ममुहूर्त में उठना, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग करना और रात्रि में हुए प्रमादाचरण की प्रतिक्रमण कर आलोचना करना। अपने नेश्राय में रहे हुए वस्त्र, पात्र आदि का प्रतिलेखन करना, अध्ययन-अध्यापन तथा प्रार्थना, प्रवचन व लेखन करना। मधुकरी वृत्ति से निर्दोष भिक्षा ग्रहण करना। लेखन पठन-पाठन, स्वाध्याय व धर्म चर्चा करना, सायंकालीन भोजन व पानी से निवृत्त होकर दिन भर में असावधानी से लगे हुए दोषों की शुद्धि के लिए पुनः प्रतिक्रमण कर आलोचना करना। उसके पश्चात् स्वाध्याय, ध्यान व धार्मिक चर्चा करना, और नौ बजे के पश्चात् विश्रांति करना।

जैन साधु के कुछ विशिष्ट नियम—

१. जैन मुनि सनसनाती सर्दी में भी अग्नि से नहीं तापते हैं और भीष्म गर्मी में भी पंखे आदि से हवा नहीं करते।

२. प्रचण्ड ग्रीष्म ऋतु में प्यास से गला सूखने पर भी रात्रि में पानी नहीं पीते।

३. वे शराब आदि किसी भी मादक द्रव्य का सेवन नहीं करते।

४. गृहस्थ के बर्तनों में या उनके घर पर बैठकर भोजन नहीं करते।

५. वे काष्ठ, लकड़ी या मिट्टी के पात्र में भिक्षा या पानी ग्रहण करते हैं; वे स्टील या अन्य धातुओं के बर्तन अपने पास नहीं रखते ।

६. वे किसी से भी भेंट, उपहार में पैसा आदि द्रव्य नहीं लेते ।

७. वस्त्र आदि भी आवश्यकतानुसार याचना करके लेते हैं ।

८. वे चार महीने तक, वर्षावास में, एक स्थान पर स्थिर रहते हैं और शेष समय अपनी अनुकूलतानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर परिभ्रमण करते रहते हैं । इन आठ महीनों में एक स्थान पर उनतीस दिन से अधिक नहीं रहते ।

९. जैन मुनि कुएँ, तालाब, नल, नदी, बावड़ी आदि का कच्चा पानी उपयोग में नहीं लेते । वे सिर्फ गरम पानी या विधि से बनाया हुआ अचित्त पानी का उपयोग करते हैं ।

१०. वे कोई भी कच्ची सब्जी, अनाज जो बिना सेंका हुआ हो उसे ग्रहण नहीं करते । फल भी जिसमें बीज आदि निकाले हुए अचित्त हों वे ही ग्रहण कर सकते हैं ।

११. जैन मुनि उन्हीं के हाथ से भिक्षा ग्रहण कर सकते हैं जो कच्चे पानी, अग्नि, कच्ची सब्जी आदि का स्पर्श न किया हो और जो महिला बच्चे को दूध पिला रही हो, जो गर्भवती हो, जिन्हें उठने-बैठने

में कष्ट का अनुभव होता हो, उनसे भिक्षा ग्रहण नहीं करते।

१२. जैन मुनि वाहन का उपयोग नहीं करते तथा पैरों में जूते, चप्पल, बूट, मोजे आदि किसी भी पादत्राण का उपयोग नहीं करते; यहां तक कि तेज धूप से और वर्षा से बचने के लिए छाते का भी उपयोग नहीं करते।

१३. जैन मुनि मधुकरी करते हैं। वे अपने लिए बनाये हुए भोजन को ग्रहण नहीं करते। व जो भी शाकाहारी व्यक्ति हैं उनके घर में अपनी विधि के अनुसार जो भिक्षा देता है उसके वहां से सहर्ष भिक्षा ग्रहण करते हैं।

१४. जैन मुनि का अपना कोई मकान या मठ नहीं होता। संघ या व्यक्ति द्वारा धर्मवृद्धि के लिए बनाये हुए मकान या पाठशाला अथवा जहां पर महिलायें आदि नहीं होती हैं वहां जैन मुनि ठहरते हैं और जैन साध्वी जहां पर पुरुष नहीं रहते हैं वहां पर ठहरती हैं।

१५. जैन मुनि खुले आकाश के नीचे रात्रि में नहीं सोते। या तो पेड़ की छाया हो या मकान आदि की छत हो उसके नीचे सोते हैं।

१६. जैन मुनि छोटी-सी-छोटी बच्ची या महिला का स्पर्श नहीं करते और जैन साध्वी पुरुष या छोटे से छोटे बालक का भी स्पर्श नहीं करती। वे पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते/करती हैं।

१७. जैन मुनि (और जैन साध्वियां) कैंची, उस्तरे आदि से बाल नहीं कटवाते। वे दाढ़ी, मूंछ या सिर के बालों को अपने हाथ से नोंचकर निकालते हैं जिसे जैन परिभाषा में 'लोच' कहते हैं। वर्ष में कम से कम एक बार संवत्सरी महापर्व के पूर्व लुंचन करना अनिवार्य है।

१८. जैन मुनि कुर्ता, पायजामा, बुश्शर्ट आदि वस्त्रों का उपयोग नहीं करते।

१९. जैन मुनि जीवों की रक्षा के लिए रजोहरण रखते हैं। दिगम्बर जैन मुनि मोरपिच्छी रखते हैं और स्थानकवासी व तेरापंथी मुनि मुंह पर मुख-वस्त्रिका बाँधते हैं। मूर्तिपूजक श्वेताम्बर मुनि मुख-वस्त्रिका को हाथ में रखते हैं।

२०. जैन मुनि पैसा, नोट तथा आभूषण आदि कोई भी परिग्रह नहीं रखते।

२१. जैन मुनि जिस मकान में रात्रि में रहते हैं वहाँ उसी मकान में जैन साध्वियाँ नहीं रह सकतीं और जहाँ पर साध्वियाँ रहती हैं वहाँ पर मुनि नहीं रह सकते।

षडावश्यक—

जैन श्रमण और जैन श्रावक के लिए जो प्रतिदिन अवश्य करने योग्य है वह "आवश्यक" कहलाता है। वह आवश्यक छः प्रकार का है—

(१) **सामायिक**—सावद्य व्यापार का परित्याग कर समताभाव में प्रवृत्ति करना।

(२) **चतुर्विंशतिस्तव**—तीर्थंकर देवों के गुणों का उत्कीर्तन करते हुए प्रभु-भक्ति में लीन होना।

(३) **वन्दन**—अहिंसा आदि महाव्रतों के धर्ता संयमी श्रमणों को वन्दन विनय करना।

(४) **प्रतिक्रमण**—संयम में लगे हुए दोषों की आलोचना तथा आत्म-निरीक्षण करना।

(५) **कायोत्सर्ग**—शरीर से ममत्व का परित्याग करना। एक स्थान पर निश्चल एवं निस्पन्द मुद्रा में खड़े होकर या बैठकर आत्म-ध्यान में तल्लीन होना। देह-ममत्व का विसर्जन कर विदेह स्थिति का अनुभव कायोत्सर्ग है।

(६) **प्रत्याख्यान**—आहारादि का कुछ समय के लिए परित्याग करना।

द्वादश-भावनाएँ

साधक के अन्तर् में वैराग्य भावना अठखेलियाँ करती रहती है, उस वैराग्य भावना को और अधिक सुदृढ़ करने के लिए और अशुभ विचारों को नष्ट कर शुभ विचारों में स्थिर होने के लिए वैराग्य की बारह भावनाएँ बताई गई हैं। इन्हें **अनुप्रेक्षा** भी कहते हैं। विरक्ति-मूलक विषय पर पुनः-पुनः चिन्तन व अनुचिन्तन करने की कला भावना है। वे ये हैं—

(१) **अनित्य**—संसार के सभी पदार्थ अनित्य और क्षणभंगुर हैं, अतः उनके वियोग में दुःखी होना व्यर्थ है—इस प्रकार का चिन्तन।

१७. जैन मुनि (और जैन साध्वियाँ) कैंची, उस्तरे आदि से बाल नहीं कटवाते। वे दाढ़ी, मूँछ या सिर के बालों को अपने हाथ से नोंचकर निकालते हैं जिसे जैन परिभाषा में 'लोच' कहते हैं। वर्ष में कम से कम एक बार संवत्सरी महापर्व के पूर्व लुंचन करना अनिवार्य है।

१८. जैन मुनि कुर्ता, पायजामा, बुश्शर्ट आदि वस्त्रों का उपयोग नहीं करते।

१९. जैन मुनि जीवों की रक्षा के लिए रजोहरण रखते हैं। दिगम्बर जैन मुनि मोरपिच्छी रखते हैं और स्थानकवासी व तेरापंथी मुनि मुंह पर मुख-वस्त्रिका बाँधते हैं। मूर्तिपूजक श्वेताम्बर मुनि मुख-वस्त्रिका को हाथ में रखते हैं।

२०. जैन मुनि पैसा, नोट तथा आभूषण आदि कोई भी परिग्रह नहीं रखते।

२१. जैन मुनि जिस मकान में रात्रि में रहते हैं वहाँ उसी मकान में जैन साध्वियाँ नहीं रह सकतीं और जहाँ पर साध्वियाँ रहती हैं वहाँ पर मुनि नहीं रह सकते।

षडावश्यक—

जैन श्रमण और जैन श्रावक के लिए जो प्रतिदिन अवश्य करने योग्य है वह "आवश्यक" कहलाता है। वह आवश्यक छः प्रकार का है—

(१) **सामायिक**—सावद्य व्यापार का परित्याग कर समताभाव में प्रवृत्ति करना।

(२) **चतुर्विंशतिस्तव**—तीर्थंकर देवों के गुणों का उत्कीर्तन करते हुए प्रभु-भक्ति में लीन होना।

(३) **वन्दन**—अहिंसा आदि महाव्रतों के व्रती संयमी श्रमणों को वन्दन विनय करना।

(४) **प्रतिक्रमण**—संयम में लगे हुए दोषों की आलोचना तथा आत्म-निरीक्षण करना।

(५) **कायोत्सर्ग**—शरीर से ममत्व का परित्याग करना। एक स्थान पर निश्चल एवं निस्पन्द मुद्रा में खड़े होकर या बैठकर आत्म-ध्यान में तल्लीन होना। देह-ममत्व का विसर्जन कर विदेह स्थिति का अनुभव कायोत्सर्ग है।

(६) **प्रत्याख्यान**—आहारादि का कुछ समय के लिए परित्याग करना।

द्वादश-भावनाएँ

साधक के अन्तर् में वैराग्य भावना अठखेलियाँ करती रहती है, उस वैराग्य भावना को और अधिक सुदृढ़ करने के लिए और अशुभ विचारों को नष्ट कर शुभ विचारों में स्थिर होने के लिए वैराग्य की बारह भावनाएँ बताई गई हैं। इन्हें **अनुप्रेक्षा** भी कहते हैं। विरक्ति-मूलक विषय पर पुनः-पुनः चिन्तन व अनु-चिन्तन करने की कला भावना है। वे ये हैं—

(१) अनित्य—संसार के सभी पदार्थ अनित्य और क्षणभंगुर हैं, अतः उनके वियोग में दुःखी होना व्यर्थ है—इस प्रकार का चिन्तन।

(२) अशरण—संसार के दुःखों से बचानेवाला कोई नहीं, केवल वीतराग द्वारा कथित धर्म ही शरणरूप है—इस प्रकार का चिन्तन करना।

(३) संसार—यह जीव अनन्त काल से इस विराट् विश्व में परिभ्रमण कर रहा है, कभी पिता होकर पुत्र बनता है, कभी पौत्र मरकर पत्नी बनती है इस प्रकार का चिन्तन करने से वैराग्य-वृद्धि होती है।

(४) एकत्व—मैं अकेला हूं, मैंने अकेले जन्म लिया है और अकेला ही मरण का वरण करूंगा। स्वजन और परिजन कोई भी दुःख को बांटनेवाला नहीं है—इस प्रकार का एकत्वमूलक चिन्तन।

(५) अन्यत्व—आत्मा के अतिरिक्त सभी 'पर' हैं, अन्य हैं। देह और आत्मा भिन्न है—इस प्रकार का चिन्तन।

(६) अशुचि (अशौच) यह शरीर अशुचिमय पदार्थों से निर्मित हुआ है। मल, मूत्र, रक्त आदि अपवित्र वस्तुओं का भण्डार है। अतः शरीर की अशुचिमयता का चिन्तन कर उसके प्रति निर्मोह होना।

(७) आस्रव—कर्मों का आगमन आस्रव है। अतः मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग द्वारा नवीन कर्म आते हैं—इस विषय पर चिन्तन करना।

(८) संवर—आस्रव को रोक देना। जिससे आत्म-प्रदेशों में स्थिरता आये, नवीन कर्मों का आगमन न हो, उस विषय पर चिन्तन करना।

(९) निर्जरा—एक देश से कर्मों का क्षय होना निर्जरा है। जिससे नवीन कर्मों का बन्ध नहीं हो और पुराने कर्म नष्ट हों तद् विषयक चिन्तन।

(१०) लोक—लोक के स्वरूप पर चिन्तन करना।

(११) बोधि-दुर्लभ—स्थावर से त्रस पर्याय मिलना कठिन है, त्रस से मनुष्य बनना और कठिन है। फिर दान, शील, विनय आदि आचार का पालन करना और भी कठिन है। सुदुर्लभ धर्म को पाकर विषय-सुख में समय व्यतीत करना उचित नही है—इस प्रकार अप्रमत्त बनकर बोधि प्राप्ति सम्बन्धी चिन्तन करना।

(१२) धर्म—यथार्थ धर्म के स्वरूप का चिन्तन करना और उसकी प्राप्ति कैसे की जाय—इस पर चिन्तन करना।

दस श्रमण धर्म—

शुभ भावना से भावित अन्तःकरण में ही धर्म ठहरता है। उस धर्म के मुख्यतः दस भेद हैं। अर्थात् श्रमण के लिए आचरण करने योग्य दस तत्व धर्म हैं। वे दस श्रमण धर्म इस प्रकार हैं—

(१) क्षान्ति—क्रोध न करना।

(२) मार्दव—मृदुभाव रखना, जाति तथा कुल आदि का अहंकार न करना।

(३) आर्जव—ऋजुभाव—सरलता रखना, माया न करना।

(४) मुक्ति—निर्लोभता रखना, लोभ न करना।

(५) **तप**—अनशन आदि बारह प्रकार का तपश्चरण करना।

(६) **संयम**—हिंसा आदि आस्रवों का निरोध करना।

(७) **सत्य**—सत्य भाषण करना, झूठ न बोलना।

(८) **शौच**—संयम में दूषण से बचना। संयम में पवित्रता रखना।

(९) **आकिंचन्य**—किसी प्रकार का संग्रह-परिग्रह न करना।

(१०) **ब्रह्मचर्य**—ब्रह्मचर्य का पूर्णतः पालन करना।

गुणस्थान—

जैन साधना पद्धति में आत्मिक गुणों के विकास की क्रमिक अवस्थाओं को 'गुणस्थान' कहा है। जैन दर्शन की दृष्टि से आत्मा मूलतः शुद्ध, बुद्ध और परिपूर्ण है। वह अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य का स्वामी है। किन्तु कर्मों के कारण आत्मा का वास्तविक स्वरूप आवृत है या विकृत है। ज्यों-ज्यों कर्मों का आवरण हटता है, त्यों-त्यों आत्मा के गुण प्रकट होते हैं।

आत्मिक-शक्ति के अल्पतम आविर्भाव वाली अवस्था प्रथम गुणस्थान है। इस गुणस्थान में आत्मशक्ति का प्रकाश बहुत ही मन्द होता है। उसके पश्चात् के गुणस्थानों में वह प्रकाश क्रमशः बढ़ता जाता है। चौदहवें गुणस्थान में उसका असली स्वरूप प्रकट हो

जाता है। गुणस्थानों की व्यवस्था मोहशक्ति की तीव्रता और मन्दता पर अवलम्बित है। दर्शनमोहनीय से आत्मा की यथार्थ विवेक शक्ति जागृत नहीं होती और चारित्र मोहनीय से विवेकयुक्त आचरण नहीं होता।

संक्षेप में उन चौदह गुणस्थानों के नाम इस प्रकार हैं—(१) मिथ्यादृष्टि (२) सास्वादन (३) सम्यक्-मिथ्या दृष्टि (४) अविरत-सम्यग्दृष्टि (५) देशविरति [विरता-विरत] (६) प्रमत्त संयत (७) अप्रमत्त संयत (८) अपूर्व-करण [निवृत्तिवादर] (९) अनिवृत्तिवादर (१०) सूक्ष्मसम्पराय (११) उपशान्तमोह (१२) क्षीणमोह (१३) सयोगकेवली (१४) अयोगकेवली।

आत्म-विकास के दो मार्ग हैं—(१) उपशम **श्रेणी** अर्थात् विकारों को दवाते हुए आगे वढ़ना। यहाँ पर क्रोधादि विकार संस्कार के रूप में रहते हैं और अवसर पाकर वे पुनः उभर जाते हैं जिससे साधक नीचे गिर जाता है। और (२) **क्षपकश्रेणी**—इसमें साधक विकारों को नष्ट-क्षय करता हुआ आगे वढ़ता है, उसके पतन की सम्भावना नहीं रहती।

द्वितीय गुणस्थान पतन काल में होता है। यह मिथ्यात्व प्राप्त करने की पहली अवस्था है। इस गुण-स्थान में तत्त्व-रुचि का स्वल्प आस्वादन रहता है। तृतीय गुणस्थान झूले में झूलनेवाले मानव की भाँति है। वहाँ पर कभी सम्यक्त्व की ओर तो कभी मिथ्यात्व की

ओर झुकाव होता है। चतुर्थ गुणस्थान में दर्शन मोहनीय का बल क्षीण हो जाता है, किन्तु चारित्र मोहनीय की अधिकता से श्रद्धा शुद्ध होने पर भी व्रतों को ग्रहण नहीं कर पाता। पाँचवें गुणस्थान में चारित्र मोहनीय की प्रबलता पहले से कम होने से कुछ त्यागवृत्ति को ग्रहण करता है। छठे गुणस्थान में त्यागवृत्ति पूर्ण रूप से प्रगट होती है, पर बीच में प्रमाद की सम्भावना बनी रहती है। सातवें गुणस्थान में प्रमाद का अभाव है। आठवें गुणस्थान में पहले कभी अनुभव न किया हो, ऐसी आत्मशुद्धि का अनुभव होता है। नौवें गुणस्थान में चारित्र मोहनीय कर्म की प्रकृति को उपशमन या क्षय करने का प्रयास होता है। दसवें गुणस्थान में केवल सूक्ष्म लोभ विद्यमान रहता है। ग्यारहवें गुण-स्थान में सूक्ष्म लोभ को उपशान्त किया जाता है। बारहवें गुणस्थान में पूर्ण रूप से मोह को क्षय कर दिया जाता है, साथ ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय रूप अवशेष घातिया कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। तेरहवें गुणस्थान में मोह के नष्ट होने से वीतरागता के साथ सर्वज्ञत्व प्रगट होता है। इस गुणस्थान में शारीरिक, मानसिक और वाचिक प्रवृत्ति अवशेष रहती है। यह जीवन्मुक्तावस्था है। चौदहवें गुणस्थान में शारीरिक, मानसिक और वाचिक प्रवृत्तियों का भी अभाव हो जाता है। पांच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है, साधक उतनी ही देर में शरीर का

परित्याग कर मोक्ष प्राप्त करता है, यह विदेह मुक्ति अवस्था है।

तप

जैन साधना में तप का भी गौरवपूर्ण स्थान है। जो आठ प्रकार के कर्मों को तपाता हो, उसे भस्म करने में सफल हो वह **तप** है। जैन मुनियों को **"श्रमण"** कहा जाता है। 'श्रमण' का अर्थ है जो तपःसाधना के द्वारा शरीर को श्रान्त करता है। अर्थात् श्रमण शब्द तपस्वी का प्रतीक है। जैन श्रमण का जीवन-मन्त्र तप है। तथागत बुद्ध ने भगवान महावीर को **"दीघतपस्सी"** कहा है। उनके श्रमणों की चर्चा करते हुए बुद्ध ने "दीघतपस्सी निगठो" कहा है। जैन आगमों में भी श्रमणों का वर्णन करते हुए **'उग्गतवे-घोरतवे-तत्ततवे-महातवे'**[1] लिखा है, अर्थात् वे उग्रतपस्वी, घोर तपस्वी, और महान् तपस्वी थे।

श्रमण जीवन प्रारम्भ करते समय भी तप आवश्यक है। तप को मगल-स्वरूप माना है। तप को दो भागों में विभक्त किया है—(१) बाह्य तप और (२) आभ्यन्तर तप। बाह्य तप क छः प्रकार हैं—

(१) **अनशन**—आहार का परित्याग करना।

(२) **ऊनोदरी**—भूख से कम आहारादि ग्रहण

---

१. (क) भगवती सूत्र १।१ ; (ख) औपपातिक सूत्र।

इस प्रकार जैन धर्म में बाह्य और आभ्यन्तर तप का जो वर्णन किया है, वह बड़ा ही अद्भुत है। बाह्य तप को आभ्यन्तर तप के द्वारा अन्तर्मुखी बनाया गया है जिससे तप ताप नहीं, किन्तु शोधक बनता है। जैन धर्म का तप केवल ग्रन्थों में नहीं, अपितु चतुर्विध संघ में सजीव रूप से प्रचलित है। आज भी जितना तप जैन धर्म के अनुयायी करते हैं, उतना अन्य किसी धर्म के अनुयायी नहीं करते। जैन धर्म में ज्ञानयोग और क्रिया-योग दोनों का समन्वय है।

संल्लेखना-संथारा—

जीवन के अन्तिम क्षणों में तप-विशेष की आराधना करना **संल्लेखना** है। इसे अपश्चिम-मारणांतिक संल्लेखना कहते हैं, जिसका अर्थ है मृत्यु के समय अतीत काल के समस्त कृत्यों की अच्छी तरह आलोचना कर शरीर एवं कषायादि को कृश करने के लिए की जाने वाली अन्तिम तपाराधना। इसे संथारा, समाधिमरण या पंडितमरण भी कहते हैं। यह मृत्यु बहुत ही प्रसन्नतापूर्वक और विवेकयुक्त होती है। श्रावक और श्रमण दोनों के लिए संल्लेखना का विधान है। सल्लेखना या संथारा आत्मघात नहीं है। आत्मघात में क्रोध आदि कषाय मुख्य रूप से होते हैं, जब कि सल्लेखना में कषाय का अभाव होता है। आत्महत्या मानव तब करता है जब वह किसी कामना को पूर्ण नहीं कर पाता और उसकी पूर्ति के अभाव में उसका

जीवन भार स्वरूप प्रतीत होता है जिससे क्षुब्ध होकर वह आत्महत्या करता है। तीव्र वेदना. मार्मिक आघात होने पर आत्महत्या की जाती है, उसमें निराशा और विवशता की पराकाष्ठा है पर संलेखना में आवेश का अभाव होता है। पूर्ण समाधि अवस्था में साधक हंसते-हंसते प्राणों का उत्सर्ग करता है।

जैन योग—

आत्मविकास के लिए योग एक प्रमुख साधन है। आचार्य हरिभद्र और उपाध्याय यशोविजयजी ने योग की परिभाषा करते हुए लिखा है—'जिससे आत्मा की विशुद्धि होती है, कर्म-मल नष्ट होता है और मोक्ष के साथ संयोग होता है वह **'योग'** है। जैन आगम साहित्य में योग शब्द का प्रयोग जिस प्रकार वैदिक और बौद्ध साहित्य में हुआ है, उस रूप में न होकर मन, वचन और काया की प्रवृत्ति के लिए हुआ है। जैन परम्परा के योग में तप और ध्यान पर अधिक बल दिया है। ध्यान का अर्थ है मन, वचन और काया के योगों को आत्मचिन्तन में केन्द्रित करना। ध्यान में तन, मन और वचन स्थिर हो जाता है, केवल साँस चलती रहती है। श्वासोश्वास के अतिरिक्त सारी क्रियाओं को रोकना अनिवार्य है। सर्वप्रथम शरीर की सभी क्रियाओं को रोका जाता है। वचन को नियन्त्रित किया जाता है। उसके पश्चात मन को आत्मस्वरूप में स्थिर किया जाता है। तन और वचन की साधना 'द्रव्य-साधना'

है और मन को साधना 'भाव-साधना' है। जैन परम्परा में हठयोग को स्थान नहीं दिया गया है और न प्राणायाम का ही विशेष महत्व माना है। हठयोग के द्वारा जो नियन्त्रण किया जाता है उससे स्थायी लाभ नहीं होता, न आत्मशुद्धि होती है, और न मुक्ति ही प्राप्त होती है। आगम साहित्य में ध्यान के लक्षण, उनके भेद-प्रभेदों पर प्रकाश डाला है। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने 'आवश्यक निर्युक्ति' में ध्यान पर विशद विवेचन किया है। आचार्य उमास्वाति ने 'तत्त्वार्थसूत्र' में ध्यान पर चिन्तन किया है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने "ध्यान शतक' की रचना की। उन्होंने स्वयं ध्यान की साधना कर जो अनुभव का अमृत प्राप्त किया, उसे इस ग्रन्थ में उद्धृत किया है। आचार्य हरिभद्र ने जैन योग पद्धति में नूतन परिष्कार किया। उन्होंने 'योगविन्दु' 'योदृष्टिसमुच्चय' 'योगविंशिका' 'योगशतक' और 'षोडशक' आदि अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया। इन ग्रंथों में जैन परम्परा के अनुसार योग के विश्लेषण के साथ पतञ्जलि की योग साधना और उनकी परिभाषा के साथ जैन योगसाधना की तुलना की है। "योग विन्दु" में योग के अधिकारी अपुनर्बन्धक, सम्यक्दृष्टि, देशव्रती, ये चार विभाग किये हैं। योग की भूमिका पर चिन्तन करते हुए अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता, वृत्तिसंक्षय ये पांच प्रकार बताये हैं। "योगदृष्टि समुच्चय" में ओघदृष्टि और योगदृष्टि पर चिन्तन किया है। प्रथम भेद में आरम्भिक अवस्था

से विकास की अन्तिम अवस्था तक की भूमिकाओं के कर्ममल के तारतम्य की दृष्टि से मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा ये आठ विभाग किये हैं। इन आठ विभागों की तुलना पतंजलि-योगसूत्र के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के साथ की जा सकती है। आचार्य हेमचन्द्र ने योग-शास्त्र में जैन दृष्टि से आसन, प्राणायाम का विशद वर्णन किया है। पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार ध्यानों का स्वरूप बताया है। विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन, मन की इन चार अवस्थाओं का भी वर्णन किया है जो इनकी मौलिक देन है। आचार्य शुभचन्द्र की "ज्ञानार्णव" एक महत्त्वपूर्ण कृति है। उसमें प्राणायाम और ध्यान के स्वरूप का वर्णन है। उपाध्याय यशोविजय जी ने अपने 'अध्यात्म-सार' 'अध्यात्मोपनिषद' 'योगावतार बत्तीसी' 'पातंजल योग-सूत्रवृत्ति' 'योगविंशिका' 'योगदृष्टि की स्वाध्याय' आदि ग्रन्थों में जैन दृष्टि से योग पर चिन्तन किया है। उनके ग्रन्थों में उनकी मध्यस्थ भावना, गुणग्राहकता, समन्वयदृष्टि स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

इस प्रकार जैन परम्परा में योग का अपना विशिष्ट स्थान है और उसकी अपनी विशेष पद्धति है।

३. जैन तत्त्व-दर्शन

जैन दर्शन

भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन का विशिष्ट स्थान है। यह दर्शन अपनी अनूठी और अपूर्व विशेषताओं के कारण जन-जन के मन को आकर्षित कर रहा है। जैन दर्शन में श्रद्धा और मेधा का समान रूप से विकास हुआ है। मानव जीवन के विकास में श्रद्धा को आवश्यकता है और मेधा को श्रद्धा की। अतः जैन दर्शन में श्रद्धा और मेधा का स्वतन्त्र रूप से विकास का अवसर होते हुए भी वे एक दूसरे के अनुगत रहे हैं। जैन परम्परा एक ओर धर्म है तो दूसरी ओर दर्शन है।

जैन दर्शन में जितना महत्व श्रद्धा को मिला है उतना ही महत्व तर्क को भी मिला है। जब हम श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं तो जैन परम्परा धर्म दिखाई देती है और तर्क की दृष्टि से देखने पर दर्शन। जैन परम्परा का जितना भी आचार पक्ष है उसका मूल अहिंसा है और विचार पक्ष का मूल आधार अनेकान्त है।

अहिंसा का निरूपण जैन धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों में भी मिलता है, पर अहिंसा का जितना सूक्ष्म विश्लेषण जैन धर्म में किया गया है उतना विश्व के

किसी भी धर्म में नहीं। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय प्रभृति किसी भी प्राणी की मन, वचन और काया से हिंसा न करना, न करवाना और न अनुमोदन करना, जैन धर्म की अपनी गहन विशेषता है। अहिंसा का मूल आधार आत्म-साम्य है। सभी जीव जीना चाहते हैं, कोई भी प्राणी दुःख नहीं चाहता। सभी को अनुकूलता प्रिय है, प्रतिकूलता अप्रिय है; अतः किसी प्राणी को कष्ट नहीं देना चाहिए। अहिंसा को केन्द्र मानकर ही सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का विकास हुआ है। अहिंसा मानव मन की एक वृत्ति है, भावना है। जैसे आचार पक्ष में अहिंसा को प्रधानता दी गई वैसे विचार पक्ष में अनेकान्त को प्रधानता है।

अनेकान्तवाद—

अनेकान्तवाद जैनदर्शन का आधार है। जैन तत्त्व-ज्ञान का भव्य भवन इसकी नींव पर टिका है। जैन धर्म ने जिस किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में चिन्तन किया है, तो अनेकान्तवादी दृष्टि से ही किया है। अनेकान्त वाद का अर्थ है वस्तु पर विभिन्न दृष्टियों से चिन्तन करना। एक ही दृष्टि से किसी वस्तु पर चिन्तन करना अपूर्ण है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ चाहे वह छोटा हो, चाहे बड़ा, उसमें अनन्त धर्म रहे हुए हैं। धर्म का अर्थ-गुण और विशेषता है। जैसे, एक फल है, उसमें रूप भी है, रस भी है, गन्ध भी है स्पर्श भी है, आकार भी है, क्षुधा शांति

करने की शक्ति है अनेक रोगों को नष्ट करने की शक्ति है तो अनेक रोगों को बढ़ाने की भी शक्ति है। इस प्रकार उसमें अनन्त धर्म (स्वभाव) हैं। प्रत्येक पदार्थ को द्रव्य एवं पर्याय—स्थिर स्वरूप और अस्थिर अवस्था दोनों दृष्टियों से समझना अनेकान्त है।

अनेकान्तवाद में 'भी' का प्रयोग होता है तो एकान्तवाद में 'ही' का प्रयोग होता है। जैसे, 'फल में रूप भी है'—यह अनेकान्तवाद है 'फल में रूप ही है'—यह एकान्तवाद है। "भी" में अन्य धर्मों की स्वीकृति का स्वर है जबकि "ही" में दूसरे धर्मों का स्पष्ट निषेध। अनेकान्त एक धर्म की स्वीकृति करते समय अन्य धर्मों के प्रति मौन रहता है; उपेक्षा भाव रखता है।

कल्पना कीजिए, एक व्यक्ति से किसी ने कहा—पिताजी, दूसरे ने कहा—पुत्र, तीसरे ने कहा—भाई; चौथे ने कहा--अध्यापक, पाँचवें ने कहा--पति, इस प्रकार कोई ताऊ, कोई मामा, कोई भानजा विविध रूप से उसे पुकारते हैं। वह पुत्र की अपेक्षा पिता है, पिता की अपेक्षा पुत्र है, पत्नी की अपेक्षा पति है, छात्र की अपेक्षा अध्यापक है। इस प्रकार उसमें विविध प्रकार के धर्म हैं।

एक व्यक्ति कहता है--मैं बहुत ही ऊँचा हूँ। दूसरे ने कहा—क्या तुम पहाड़ से भी अधिक ऊँचे हो? वह कहता है—मैं छोटा हूँ। दूसरे ने कहा—क्या तुम चींटी

से भी छोटे हो ? तब वह कहता है—नहीं, चींटी से तो बड़ा हूं। इस प्रकार सापेक्षवाद की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु छोटी भी है, बड़ी भी है। अपेक्षादृष्टि से अनित्य भी है। जैसे एक व्यक्ति ने स्वर्ण कंगन से अंगूठी बनाई और उसने दूसरे ने चेन बनाई। आकृति परिवर्तित हुई; किंतु स्वर्णत्व कंगन अंगूठी, चेन में विद्यमान है. स्वर्णत्व (द्रव्य) की दृष्टि से कोई परिवर्तन नहीं हुआ। पर्याय में परिवर्तन होता है, उसमें उत्पत्ति और विनाश होता है किन्तु द्रव्य दृष्टि से वह ध्रुव है। अनेकान्त किसी एक धर्म का आग्रह न रखकर अपेक्षा दृष्टि से सभी धर्मों को समझने का अवसर देता है।

अनेकान्त दृष्टि को जिस भाषा के माध्यम से व्यक्त किया जाता है वह "स्याद्वाद" है। अनेकान्त दृष्टि है, और स्याद्वाद उस दृष्टि की अभिव्यक्ति की पद्धति-वचनशैली है। अनेकान्तवाद और स्याद्वाद में मुख्य अन्तर यह है कि अनेकान्त विचार प्रधान है और स्याद् वाद भाषाप्रधान है। जब तक दृष्टि विचार रूप है, तब तक वह अनेकान्त है और जब दृष्टि वाणी का परिधान पहनती है तब वह स्याद्वाद बन जाती है। अनेकान्त-वाद तर्क का सिद्धान्त नहीं, अपितु अनुभवमूलक सिद्धान्त है। एतदर्थ ही आचार्य हरिभद्र ने अनेकान्त के सम्बन्ध में कहा है—"कदाग्रही व्यक्ति की जिस विषय में मति होती है उसी विषय में वह अपनी युक्ति लगाता है, किन्तु

एक निष्पक्ष व्यक्ति उस बात को स्वीकार करता है, जो युक्तिसिद्ध होती है।"

प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं, अतः अनेक धर्मात्मक वस्तु के निरूपण के लिए "स्याद्" शब्द के प्रयोग की आवश्यकता रहती है। "स्याद्" का अर्थ है—किसी अपेक्षा विशेष से, किसी एक धर्म की दृष्टि से कथन करना। इसमें संशय नहीं है, किन्तु वस्तु के अन्य गुण-स्वभाव की ओर अपेक्षा पूर्वक अपने कथ्य की संस्तुति है। क्योंकि वस्तु के अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म का विचार उसी दृष्टि से किया जाता है, दूसरे धर्म का विचार दूसरी दृष्टि से किया जाता है। इस तरह वस्तु के धर्म-भेद से दृष्टि भेद उत्पन्न होता है। इस अपेक्षा-वाद या सापेक्षवाद का नाम ही 'स्याद्वाद' है। स्याद् वाद जीवन के उलझे हुए प्रश्नों को सुलझाने की एक विशेष पद्धति है। उसमें न अर्ध सत्य को स्थान है, न संशयवाद को ही। वह अपेक्षा दृष्टि से प्रत्येक वस्तु का निश्चयात्मक चिन्तन करता है। इसलिए अनेकान्तवाद को सन्देहवाद या संशयवाद नहीं कहा जा सकता, किंतु इसे तटस्थ दृष्टि से सत्य समझने की चाबी कह सकते हैं।

सप्तभंगी

"स्याद्" का अर्थ "कथंचित्" है। तर्कशास्त्र के अनुसार किसी भी प्रश्न का उत्तर सात प्रकार से दिया जाता है, इसलिए स्याद्वाद के सन्दर्भ में 'सप्तभंगी' का

प्रयोग किया जाता है। जैनदर्शन वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करते समय भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं को सामने रखता है। एक ही वस्तु किसी एक अपेक्षा से सत् है, अन्य अपेक्षा से असत् भी है; एक अपेक्षा से उपादेय है दूसरी अपेक्षा से हेय भी है। इस अपेक्षा को लेकर सात भंग बनते हैं—

(१) स्यादस्ति — प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य (व्यक्तित्व), क्षेत्र, काल, और भाव (अवस्था विशेष) की अपेक्षा से 'सत्' है।

(२) स्यान्नास्ति—किंतु वही वस्तु परद्रव्य, क्षेत्र आदि की अपेक्षा से 'असत्' है।

(३) स्यादस्ति-नास्ति—दोनों अपेक्षाओं को एक साथ क्रमशः रखने पर वस्तु 'सत्' भी है और 'असत्' भी है।

(४) स्यादवक्तव्य—दोनों अपेक्षाओं को एक साथ रखने पर भी कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बोलना क्रमशः होता है। यदि दोनों को एक साथ बोलना चाहें तो 'अवक्तव्य' हो जाएगा।

(५) स्यादस्ति अवक्तव्य—वस्तु किसी अपेक्षा से 'सत्' है और किसी अपेक्षा से 'अवक्तव्य' है।

(६) स्यान्नास्ति अवक्तव्य—वस्तु किसी अपेक्षा से नहीं है और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य है।

(७) **स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य**—किसी अपेक्षा से है, किसी अपेक्षा से नहीं है किन्तु एक साथ उसका कथन नहीं किया जा सकता अतः किसी अपेक्षा से 'अवक्तव्य' है।

अस्ति-नास्ति के समान नित्य-अनित्य, भेद-अभेद सामान्य-विशेष आदि अपेक्षाओं को लेकर के भी सप्त-भंगी कही जा सकती है। वास्तव में ये कथन शैली के सात प्रकार या विकल्प हैं।

नय—

अनेकान्तदृष्टि का मूल आधार 'नय' है। नयों में सभी एकान्तवादी दर्शनों का अन्तर्भाव हो जाता है। उनमें समन्वय स्थापित किया जा सकता है। "नय" का अर्थ है—"प्रमाण से परिगृहीत वस्तु के एक देश में वस्तु का निश्चय होना अर्थात् "ज्ञाता का अभिप्राय" जो है, वह नय है।

पदार्थ के स्वरूप का विवेचन दो प्रकार से किया जा सकता है—द्रव्य रूप से, और पर्याय रूप से। द्रव्य रूप से विवेचन करना "प्रमाण" है और पर्याय रूप से करना "नय" है। द्रव्य वस्तु का सपूर्ण स्वरूप है और पर्याय उसकी अवस्था विशेष। नय अँशग्राही होता है और प्रमाण सर्वग्राही होता है। इसीलिए प्रमाण को शकलादेशी और नय को विकलादेशी कहा है। समस्त व्यवहार नय के अधीन है। नय (१) सुनय और (२) दुर्नय दोनो प्रकार का है। 'सुनय' वस्तु के अपेक्षित अंश

को मुख्य रूप से ग्रहण करने पर भी शेष अंशों का निराकरण नहीं करता, पर 'दुर्नय' निराकरण करता है। नय के अनन्त भेद हो सकते हैं, क्योंकि जितने शब्द, वचन विकल्प हैं उतने ही नय हैं।

संक्षेप में नयों को सात भेदों में विभाजित किया है। एक ही शब्द विस्तृत अर्थ का प्रतिपादक होने पर भी उत्तरोत्तर संकुचित होता जाता है। वे सात नय इस प्रकार हैं—

(१) **नैगमनय**—सामान्य और विशेष आदि अनेक धर्म को ग्रहण करने वाला है। यह नय वास्तविकता के साथ उपचार को भी ग्रहण करता है, जैसे हम तांगेवाले को "तांगा" कहकर पुकारते हैं, वीर पुरुष को 'शेर' कहते हैं। इस उपचार का आधार कहीं पर गुण, कहीं पर सादृश्य और कहीं पर सम्बन्ध है। जैसे तांगे और तांगेवाले में स्वामिभाव सम्बन्ध है। इस नय का क्षेत्र सब से अधिक विस्तृत है।

(२) **संग्रह नय**—विशेषों की अपेक्षा न करके वस्तु को सामान्य रूप से जानना, अर्थात् समस्त पदार्थों का सम्यक् प्रकार से एकीकरण करके जो अभेद रूप से ग्रहण करता है वह संग्रह नय है। जैसे जीव कहने से त्रस, स्थावर आदि सभी का बोध होता है।

(३) **व्यवहार नय**—संग्रह नय के द्वारा गृहीत पदार्थों का विभाग करके उन्हें खण्डशः ग्रहण करना; जैसे मानव

को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि जातियों में विभाजित करना। संग्रह नय की दृष्टि अभेद की ओर जाती है तो व्यवहार नय की दृष्टि भेद की ओर।

(४) **ऋजुसूत्र नय**—ऋजु याने सरल। यह वर्तमान अवस्था को लेकर चलने वाला नय है। ऋजुसूत्र की दृष्टि में जिस व्यक्ति का मुख्य व्यवसाय अध्यापन है उसे अध्यापक कहना। भले ही वह सो रहा हो, भजन कर रहा हो उस समय भी वह अध्यापक ही है। वस्तु के मुख्य गुण को यह व्यक्त करता है।

(५) **शब्द नय**—ऋजुसूत्र नय केवल वर्तमान काल पर ही दृष्टि रखता है। पर शब्दनय, लिंग, कारक, संख्या आदि का भेद होने पर भी वस्तु में परस्पर भेद मानता है। जैसे, 'नगर' और 'पुर; शब्द-नय की दृष्टि से दोनों में परस्पर भेद है।

(६) **समभिरूढ नय**—यह नय पर्यायवाची शब्दों में भिन्न अर्थ को द्योतित करता है। यह व्युत्पत्ति के भेद से पर्यायवाची शब्दों के अर्थ में भेद स्वीकार करता है। जैसे, 'इन्द्र', 'शक्र' और 'पुरन्दर' शब्दों के पर्यायवाची होने पर भी इन्द्र से परम ऐश्वर्यवान्, शक्र से सामर्थ्य-वान् और पुरन्दर से नगरों का विदारण करने वाले, भिन्न-भिन्न अर्थों का परिज्ञान होता है। भिन्न-भिन्न व्युत्पत्ति से पर्यायवाची शब्द भिन्न भिन्न अर्थों के द्योतक होते हैं।

को मुख्य रूप से ग्रहण करने पर भी शेष अंशों का निराकरण नहीं करता, पर 'दुर्नय' निराकरण करता है। नय के अनन्त भेद हो सकते हैं, क्योंकि जितने शब्द, वचन विकल्प है उतने ही नय हैं।

संक्षेप में नयों को सात भेदों में विभाजित किया है। एक ही शब्द विस्तृत अर्थ का प्रतिपादक होने पर भी उत्तरोत्तर संकुचित होता जाता है। वे सात नय इस प्रकार हैं—

(१) **नैगमनय**—सामान्य और विशेष आदि अनेक धर्म को ग्रहण करने वाला है। यह नय वास्तविकता के साथ उपचार को भी ग्रहण करता है, जैसे हम तांगेवाले को "तांगा" कहकर पुकारते हैं, वीर पुरुष को 'शेर' कहते हैं। इस उपचार का आधार कहीं पर गुण, कहीं पर सादृश्य और कहीं पर सम्बन्ध है। जैसे तांगे और तांगेवाले में स्वामिभाव सम्बन्ध है। इस नय का क्षेत्र सब से अधिक विस्तृत है।

(२) **संग्रह नय**—विशेषों की अपेक्षा न करके वस्तु को सामान्य रूप से जानना, अर्थात् समस्त पदार्थों का सम्यक् प्रकार से एकीकरण करके जो अभेद रूप से ग्रहण करता है वह संग्रह नय है। जैसे जीव कहने से त्रस, स्थावर आदि सभी का बोध होता है।

(३) **व्यवहार नय**—संग्रह नय के द्वारा गृहीत पदार्थों का विभाग करके उन्हें खण्डशः ग्रहण करना; जैसे मानव

को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि जातियों में विभाजित करना। सँग्रह नय की दृष्टि अभेद की ओर जाती है तो व्यवहार नय की दृष्टि भेद की ओर।

(४) **ऋजुसूत्र नय**—ऋजु याने सरल। यह वर्तमान अवस्था को लेकर चलने वाला नय है। ऋजुसूत्र की दृष्टि में जिस व्यक्ति का मुख्य व्यवसाय अध्यापन है उसे अध्यापक कहना। भले ही वह सो रहा हो, भजन कर रहा हो उस समय भी वह अध्यापक ही है। वस्तु के मुख्य गुण को यह व्यक्त करता है।

(५) **शब्द नय**—ऋजुसूत्र नय केवल वर्तमान काल पर ही दृष्टि रखता है। पर शब्दनय, लिंग, कारक, संख्या आदि का भेद होने पर भी वस्तु में परस्पर भेद मानता है। जैसे, 'नगर' और 'पुर; शब्द-नय की दृष्टि से दोनों में परस्पर भेद है।

(६) **समभिरूढ नय** – यह नय पर्यायवाची शब्दों में भिन्न अर्थ को द्योतित करता है। यह व्युत्पत्ति के भेद से पर्यायवाची शब्दों के अर्थ में भेद स्वीकार करता है। जैसे, 'इन्द्र', 'शक्र' और 'पुरन्दर' शब्दों के पर्यायवाची होने पर भी इन्द्र से परम ऐश्वर्यवान्, शक्र से सामर्थ्य-वान् और पुरन्दर से नगरों का विदारण करने वाले, भिन्न-भिन्न अर्थों का परिज्ञान होता है। भिन्न-भिन्न व्युत्पत्ति से पर्यायवाची शब्द भिन्न भिन्न अर्थों के द्योतक होते हैं।

(७) **एवंभूत नय**—जो जैसी क्रिया करने वाला है उसे उसी रूप में पुकारना; जैसे पूजा करते समय 'पुजारी' कहना और रोटी बनाते समय 'रसोइया' कहना ।

इन सात नयों में पूर्व के तीन नयों में अर्थ की प्रधानता है और अन्तिम चार नय शब्द प्रधान नय हैं ।

प्रमाण—

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने प्रमाण का भी उल्लेख किया है कि नय अनेक धर्मात्मक वस्तु के एक अँश को ग्रहण करता है और **प्रमाण** वस्तु के अनेक अंशों या समग्र को ग्रहण करता है। प्रमाण में वस्तु का सही परिज्ञान होता है ।

प्रमाण के मुख्य दो भेद हैं—(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष। परोक्ष के दो भेद हैं—(१) मतिज्ञान और श्रुत-ज्ञान, । प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं—(१) अवधिज्ञान (२) मनःपर्यवज्ञान और (३) केवलज्ञान ।

प्रमाण अंश और अंशी दोनों को प्रधान रूप से जानता है, जब कि नय अंशों को प्रधान और अंशी को गौण रूप से या अशी को प्रधान और अँशों को गौण रूप से जानता है, पर प्रमाण वस्तु के विधि और निषेध दोनों रूपों को जानता है ।

मतिज्ञान—वह है जो ज्ञान, इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है । उसके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा आदि अनेक भेद-प्रभेद हैं ।

श्रुतज्ञान—मतिज्ञान के पश्चात् जो चिन्तन मनन के द्वारा परिपक्व ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य है। श्रुतज्ञान के अंग-प्रविष्ट, अंगबाह्य आदि अनेक भेद हैं।

अवधिज्ञान—जिस ज्ञान की सीमा होती है वह अवधि है। अवधि ज्ञान केवल रूपी पदार्थों को ही जानता है पर इसमें इन्द्रिय एवं मन की सहायता की अपेक्षा नहीं रहती। उसके भी अनुगामी, अननुगामी, वर्द्धमान, हीयमान, अप्रतिपाति, प्रतिपाति आदि अनेक भेद हैं। इसमें भव-प्रत्यय (जन्मजात) अवधिज्ञान देव व नारक में होता है तथा मनुष्य एवं तिर्यंच में गुण-प्रत्यय विशेष क्षयोपशम से प्राप्त होता है।

मनःपर्यव ज्ञान—मानव के मन के चिन्तित विषय को जाननेवाला ज्ञान। उसके भी ऋजुमति और विपुल मति ये दो प्रकार हैं। यह पूर्णतः आत्मशक्ति है और उच्चकोटि के साधक को ही प्राप्त होता है।

केवलज्ञान—केवल ज्ञानावरण कर्म के पूर्ण नष्ट होने से जो ज्ञान होता है वह केवलज्ञान है। यह ज्ञान शुद्ध, सम्पूर्ण, असाधारण और अनन्त होता है। केवल ज्ञान उत्पन्न होते ही केवलज्ञानी लोक और अलोक को जानने लगता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह तथा अन्तराय इन चार घाति कर्म का क्षय होने से आत्मा में यह ज्ञान प्रकट होता है।

निक्षेप—

निक्षेप–का अर्थ है रखना या विभाजन करना। शब्द का अर्थ करते समय विभाजन की चार दृष्टियाँ सामने रखी जाती हैं और हमें यह चिन्तन करना पड़ता है कि प्रस्तुत प्रसंग में किस दृष्टि की प्रधानता है।

(१) **नाम निक्षेप**—नाम-प्रधान—हम किसी व्यक्ति का नाम "राजा" रख लेते हैं, वह भिखारी है, तथापि हम उसे राजा कहकर पुकारते हैं। इस कथन को असत्य नहीं कह सकते। नाम निक्षेप में नाम की दृष्टि से शब्द का प्रयोग होता है।

(२) **स्थापना निक्षेप**—जो अर्थ तद्रूप नहीं है उसे तद्रूप मान लेना स्थापना-निक्षेप है। अर्थात्, किसी एक वस्तु की अन्य वस्तु में यह परिकल्पना करना कि यह वह है। स्थापना भी तदाकार और अतदाकार दो प्रकार की है। किसी वस्तु की उसी के आकारवाली दूसरी वस्तु में स्थापना करना तदाकार स्थापना है; जैसे राजेन्द्र कुमार के चित्र को राजेन्द्र कुमार कहना। और अतदाकार स्थापना वह है जैसे शतरंज आदि के मुहरों में अश्व, हाथी आदि की कल्पना करना।

(३) **द्रव्य निक्षेप**—भावी या भूत पर्याय की दृष्टि से किसी वस्तु को उस नाम से पुकारना। युवराज को राजा कहना, या भूतपूर्व न्यायाधीश को न्यायाधीश कहना।

(४) भाव निक्षेप—गुण या वर्तमान अवस्था के आधार पर वस्तु को उस नाम से पुकारना, जैसे सिंहासनासीन व्यक्ति को 'राजा' कहना। साधना करने वाले को साधक कहना।

ये चारों निक्षेप नयों के अन्तर्भूत आ जाते हैं। भाव निक्षेप का अन्तर्भाव पर्यायार्थिक नय में और शेष तीन द्रव्यार्थिक नय में समा जाते हैं। तथापि वस्तु के स्वरूप को सर्व साधारण स्पष्ट रूप में समझ सके, जान सके इस दृष्टि से निक्षेप का कथन है।

तत्ववाद

जैन दर्शन विश्व के मूल में चेतन और अचेतन इन दो तत्वों का अस्तित्व मानता है। वह यह नहीं मानता कि चेतन से अचेतन की सृष्टि हुई अथवा अचेतन से चेतन का विकास हुआ। ये दोनों तत्व अनादि है और स्वतन्त्र है। विस्तार की दृष्टि से दो तत्वों को नौ तत्वों में विभक्त किया है। दार्शनिक ग्रन्थों में सात तत्व भी मिलतेहैं (१) जीव (२) अजीव (३) आस्रव (४) वन्ध (५) संवर (६) निर्जरा और (७) मोक्ष।

आगम साहित्य में नौ तत्वों का उल्लेख है। (१) जीव (२) अजीव (३) पुण्य (४) पाप (५) आस्रव (६) वन्ध (७) संवर (८) निर्जरा और (९) मोक्ष। पुण्य और पाप का आस्रव या वन्ध तत्व में समावेश करके दार्शनिकों ने सात तत्व माने हैं।

(१) **जीव तत्व**—यह चेतन तत्व है। चेतना स्वरूप है, ज्ञान दर्शन रूप है; वह रागादि भावों—ज्ञानावरणादि कर्मो का कर्ता तथा भोक्ता है। स्वदेह मात्र है, इसका स्वभाव उर्ध्वगमन है। जब तक वह कर्मो से संयुक्त है संसारी कहलाता है और कर्म नष्ट होने पर वही मुक्त कहलाता है। ससारी जीव इन्द्रिय, शरीर, मन आदि से युक्त होता है। नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव अथवा त्रस और स्थावर के रूप में इसके अनेक विभाग वताये गये हैं।

(२) **अजीव तत्व**—जिस द्रव्य में चेतना का अभाव हो अथवा जिसे हेय या उपादेय का ज्ञान न हो, वह अजीव है, इसे जड़ भी कहते हैं। अजीव के पाँच भेद हैं—(१) धर्म (२) अधर्म (३) आकाश (४) काल, (५) पुद्गल ये पाँचों द्रव्य एक साथ रहने पर भी पृथक् और स्वतन्त्र हैं। इनमें पुद्गल द्रव्य के अतिरिक्त शेष चार द्रव्य नित्य, अवस्थित, अरूपी अथवा अमूर्तिक हैं। इनमें एक काल द्रव्य को छोड़कर शेष चार अस्तिकाय हैं। जीव की गणना करने से **पंचास्तिकाय** वनते हैं। अस्तिकाय का तात्पर्य है; जिनका गुणों और अनेक प्रकार के पर्यायों के साथ अभेद या तद्रूपता है वे अस्तिकाय है। अस्ति का अर्थ है प्रदेश और काय का अर्थ है समूह। पाँच द्रव्य प्रदेशसमूह रूप होने से वह अस्तिकाय है। काल के प्रदेश न होने से वह अस्तिकाय नहीं है। पुद्गल

द्रव्य रूपी और मूर्तिक है, रूपी का अर्थ है—स्पर्श, रस, गंध और वर्णवान पदार्थ।

'धर्म और अधर्म' ये जैन दर्शन के विशेष पारिभाषिक शब्द हैं। ये अस्तिकाय हैं, तथा पदार्थ विशेष के वाचक हैं। धर्म और अधर्मद्रव्य स्वयं निष्क्रिय और अप्रेरक हैं। पर ये जीव और पुद्गल को गमन करने में या अवस्थिति—ठहरने में बाह्य सहायक अवश्य होते हैं; जैसे—जल मछली को तैरने की प्रेरणा नहीं देता, किन्तु तैरती हुई मछली को वह सहायक अवश्य होता है। वैसे ही धर्म तत्व गति-क्रिया में सहायक है और अधर्म तत्व ठहरने में सहायक है।

आकाश भी अस्तिकाय है। उसका स्वभाव जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल द्रव्य को अवकाश-स्थान देना है। आकाश के लोकाकाश, अलोकाकाश ये दो भेद हैं, जिसमें धर्म- अधर्म द्रव्य तिल में तेल की भाँति व्याप्त है। लोकाकाश में जीव और पुद्गलों की गति होती रहती है। जहाँ धर्म, अधर्म, पुद्गल और जीव व काल का अभाव हो वह अलोकाकाश कहा जाता है। लोक के बाहर का अनन्त आकाश अलोकाकाश है। आकाश अनन्त, नित्य और अमूर्त पदार्थ है।

"काल" को कुछ जैनाचार्यों ने स्वतन्त्र द्रव्य माना है और कुछ जैनाचार्यों ने उसे स्वतन्त्र द्रव्य नहीं माना है। दिगम्बर परम्परा काल को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में मानती

है और श्वेताम्वर परम्परा में दोनों मान्यताएँ हैं। काल अरूपी अजीव द्रव्य है। जीव और पुद्गलों के परिणमन को निहार कर व्यवहार काल का ज्ञान होता है। परन्तु विना निश्चय काल के जीव और पुद्गलों का परिणमन नहीं हो सकता। अतः जीव, पुद्गल के परिणमन से निश्चय काल का ज्ञान होता है। व्यवहार काल पर्याय प्रधान होने से क्षणभंगुर है, जैसे घड़ी, मुहुर्त, प्रहर, दिन-रात, पक्ष मास, वर्ष आदि। और निश्चयकाल द्रव्य प्रधान होने से नित्य है।

काल का सूक्ष्म अंश **'समय'** कहलाता है। जैन साहित्य में काल का विस्तार पूर्वक वर्णन है। पर यहाँ विस्तार में न जाकर मुख्य विन्दु को वताया जाता है, जिस समय वर्ण, गंध, रस और स्पर्श में स्थिति, अवगाहना आदि की अभिवृद्धि होती है, वह समय **उत्सर्पिणी काल** और जिसमें क्रमशः हानि होती है वह **अवसर्पिणी काल** है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल मिलकर एक काल-चक्र होता है। प्रत्येक अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी में छः आरे होते हैं—(१) सुषमा-सुषमा (२) सुषमा (३) सुषमा-दुषमा (४) दुषमा-सुषमा (५) दुषमा और (६) दुषमा-दुषमा।

पुद्गल— शब्द, वन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान भेद अंधकार, छाया, आतप और उद्योत ये पुद्गल की पर्यायें-अवस्थाएँ हैं। वैशेषिक दर्शन, शब्द को आकाश का गुण

मानता है, पर जैन दर्शन के अनुसार वह पुद्‌गल का गुण है। शब्द का कुछ आकार अवश्य होना चाहिए, नहीं तो वह रेडियो, रिकार्ड आदि में पकड़ा नहीं जा सकता।

आधुनिक विज्ञान का "मैटर" पुद्‌गल का ही रूपान्तर है। पुद्‌गल के चार भेद हैं—(१) स्कन्ध (२) देश (३) प्रदेश और (४) परमाणु। जिसे दो या दो से अधिक भागों में विभक्त किया जा सके वह 'स्कन्ध' है। स्कन्ध एक इकाई है। उस इकाई के बुद्धिकल्पित किन्तु संलग्न एक विभाग-स्कन्ध—देश है, जैसे पुस्तक स्कन्ध है तो पुस्तक का एक पृष्ठ स्कन्ध-देश है। स्कन्ध से अपृथक् भूत अविभाज्य अंश स्कन्ध प्रदेश है। पन्ने का वह हिस्सा जो अविभागी है, जिसका अंश नहीं हो सकता वह स्कंध-प्रदेश है। अर्थात् परमाणु जब तक स्कन्धगत हैं तब तक वह स्कन्ध प्रदेश कहलाता है। स्कन्ध से पृथक् निरंश तत्त्व **परमाणु** है। प्रदेश और परमाणु में केवल स्कन्ध से अपृथक्भाव और पृथक्भाव का अन्तर है। जैन दर्शन में परमाणु की प्राचीनतम व्याख्या उपलब्ध है। आज का विज्ञान जिस परमाणु-विखण्डन की बात करता है जैन दर्शन उससे भी सूक्ष्मतम अंश को परमाणु मानता है। परमाणु विज्ञान जैन दर्शन की मौलिक देन है।

(३) **पुण्य**—शुभ कर्मों को या उदय में आये हुए शुभ पुद्‌गलों को पुण्य कहा है। दीन, दुःखी पर करुणा करना उनकी सेवा-शुश्रूषा करना, परोपकार करना अन्न, जल

(२) षट् द्रव्य के रूप में। द्रव्य, तत्त्व और पदार्थ ये तीनों शब्द एकार्थक हैं। हमने उपर्युक्त पंक्तियों में तत्त्व के बारे में विचार किया, अब द्रव्य क्या है ? —इस पर चिन्तन करना है।

षट्द्रव्य

गुण और पर्याय का आश्रय एवं आधार द्रव्य है। यह समग्र लोक षट् द्रव्यात्मक अथवा पंचास्तिकाय रूप है। द्रव्य वह है जो अपनी मूल स्थिति को रखते हुए विविध परिणामों में परिणत होता है, अपने पर्यायों में द्रवित होता है। क्योंकि बिना पर्याय के द्रव्य नहीं रह सकता। और बिना द्रव्य के पर्याय नहीं रह सकते। द्रव्य गुणात्मक है, गुणों का आश्रय और गुणों का आधार है, उसके विभिन्न परिणमन या रूप ही उसके पर्याय है। गुण के बिना द्रव्य नहीं और द्रव्य के बिना गुण नहीं, अर्थात् जो गुण और पर्याय से युक्त हो—उत्पाद एवं व्ययशील होकर के भी जो ध्रुव है, वह द्रव्य है।

वस्तु में उत्पत्ति, स्थिति और विनाश एक साथ रहते हैं। वस्तु न एकान्त नित्य है, न एकान्त क्षणिक है और न एकान्त कूटस्थनित्य है, किन्तु वह परिणामी—नित्य है। जैन दर्शन द्रव्य को परिणामी-नित्य मानता है। एक ही वस्तु में अवस्था-भेद होता है, जैसे आम्रफल पहले हरा रहता है, फिर पीला हो जाता है, तो भी वह आम्र ही रहता है। स्वर्ण

का कुण्डल मिटकर कंकण बनता है। कुण्डल पर्याय का व्यय हुआ और कंकण पर्याय का उत्पाद हुआ, किन्तु स्वर्णत्व ज्यों का त्यों रहा। द्रव्य न कभी उत्पन्न होता है और न विनष्ट होता है। उत्पाद और विनाश द्रव्य के पर्याय हैं। जहाँ जहाँ द्रव्य हैं वहां पर्याय भी हैं और जहाँ पर्याय है वहाँ द्रव्य भी है। द्रव्य एक ही समय में उत्पत्ति, विनष्टि और स्थिति रूप भावों से समवेत रहता है। द्रव्य की दृष्टि से (१) धर्मास्तिकाय (२) अधर्मास्तिकाय (३) आकाशास्तिकाय (४) काल (५) पुद्गलास्तिकाय और (६) जीवास्तिकाय ये छः भेद हैं जिनका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है।

लोकस्थिति

जहाँ पर हम (जीव एवं पुद्गल) रह रहे हैं वह लोक है। जहाँ पर प्राणी नहीं रह सकते वह अलोक है। लोक वह है, जहाँ पर धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव इन षट् द्रव्यों की सहस्थिति है। लोक और अलोक का विभाग नया नहीं, अपितु शाश्वत है और उनके विभाजित तत्त्व भी शाश्वत हैं। आकाश अखण्ड है, किन्तु धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय; ये लोक और अलोक की सीमा निर्धारित करते हैं। ये जहाँ तक हैं वहाँ लोक है, जहाँ पर उनका अभाव है वह अलोक है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के अभाव में गति और स्थिति में सहायता नही मिलती। इसलिए जीव और पुद्गल लोक में ही है, अलोक में नहीं। लोक ससीम

है और अलोक असीम है। लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश है और अलोकाकाश के अनन्त प्रदेश हैं। लोक चौदह रज्जु परिमाण परिमित है, पर अलोक के लिए ऐसा विधान नहीं है। लोक नीचे विस्तृत है, मध्य में सँकरा है और ऊपर मृदंगाकार है। तीन शरावो (सिकोरा) में से एक शराव औंधा, दूसरा सीधा और तीसरा उसके ऊपर औंधा रखने से,जो आकार बनता है, वह त्रि-शराव-संपुट-आकार कहलाता है। वही लोक का आकार कहलाता है। अलोक का आकार मध्य में पोलवाले गोले के सदृश है।

लोकाकाश तीन भागों में विभक्त है। ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। ऊर्ध्वलोक में मुख्यतः सिद्ध और देवों का निवास है। मध्य लोक में मुख्यतः मनुष्य और तिर्यञ्च आदि का निवास है। अधोलोक में मुख्य रूप से नारकीय जीवों का निवास है।

जैन दर्शन लोक को अनादि, अनन्त मानता है। न इस विश्व का प्रारम्भ है, न अन्त है। अनन्त काल से यह चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। तथ्य यह है कि जो भी तत्व अनादि और अनंत होता है वह किसी के द्वारा बनाया हुआ नहीं होता। जो बनाया हुआ होता हैं वह अनादि-अनन्त नहीं होता।

ईश्वर-कर्तृत्व

जैन दर्शन ने ईश्वर को माना है, पर वह ईश्वर को कर्तृत्ववादी या कर्त्ता नहीं मानता। उसका मानना है कि

विश्व को बनाने वाला ईश्वर नहीं है। यह विश्व सदा से था और रहेगा। इसके लिए एक विश्व सत्ता का कोई कर्त्ता उसे स्वीकार नहीं है। क्योंकि किसी को कर्त्ता मानने से उस कर्त्ता के कर्त्ता के सम्बन्ध में भी प्रश्न तो बना रहेगा। यदि जगत् का कर्त्ता ईश्वर है तो ईश्वर का कर्त्ता कौन है ? ईश्वर यदि स्वयंभू है तो फिर यह लोक-संसार स्वयम्भू क्यों नहीं माना जा सकता ? अतः जैन दर्शन जगत का कर्त्ता, रक्षक और संहारक भी ईश्वर को नहीं मानता। यह जगत शाश्वत है। जैन दर्शन के ईश्वर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति सम्पन्न है, वे शरीर और कर्म आदि बन्धनों से मुक्त हैं और स्वभाव में स्थित हैं।

जो जीव एक बार परमात्म-पद को प्राप्त कर लेता है वह पुनः जन्म ग्रहण नहीं करता। जन्म और मरण का मुख्य हेतु कर्म है। ईश्वर कर्म-मल से मुक्त होते हैं। अतः उनका पुनः जन्म या देह धारण करने का कोई भी कारण नहीं है। कारण के विना कार्य नहीं।

जैन दर्शन का पुरुषार्थ में विश्वास है। पुरुषार्थ से आत्मा सुख और दुःख को प्राप्त होता है। यदि पुरुषार्थ सही दिशा में हुआ तो सुख का सरसब्ज बाग लहराने लगता है। यदि पुरुषार्थ विपरीत दिशा में हुआ हो, दुःख की काली निशा मँडराने लगती है। पुरुषार्थ में विश्वास करने पर भी नियति, कर्म, स्वभाव और काल आदि सभी तथ्यों को जैन दर्शन स्वीकार करता है और यह

मानता है प्रत्येक कार्य की निष्पत्ति इन सभी के समन्वित योग से होती है। एकान्ततः किसी भी एक तथ्य से कार्य निष्पन्न नहीं होता। नियति, काल, कर्म, पुरुषार्थ सभी का समन्वय करना ही जैन दर्शन का पुरुषार्थवाद है।

आत्मवाद

जैन दर्शन ने आत्मा को चैतन्य स्वरूप माना है। उपयोग उसका लक्षण है। "उपयोग" शब्द ज्ञान और दर्शन का संग्राहक है। अनाकार उपयोग दर्शन है और साकार उपयोग ज्ञान है। जो उपयोग जाति, गुण, क्रिया आदि का बोध कराता है वह साकार उपयोग है और जो सामान्य सत्ता का बोध कराता है वह अनाकार है। आत्मा में अनन्त गुण पर्याय हैं, पर उनमें उपयोग मुख्य है। यह स्व-पर प्रकाशक है। अपना तथा दूसरे द्रव्य, गुण, पर्यायों का ज्ञान करा सकता है। उपयोग जड़ पदार्थों में नहीं होता। अतः उपयोग (ज्ञान-दर्शन) आत्मा का लक्षण है।

आत्मा अरूपी है। वह न स्त्री है न पुरुष है। ये सारी उपाधियाँ शरीराश्रित एवं कर्मजन्य हैं। आत्मा शाश्वत है। आत्मा असंख्यात प्रदेशी है। आत्मा का कोई भी आकार नहीं है, किन्तु कर्म युक्त होने से वह शरीर को धारण करता है। जैसा शरीर होता है, वह वैसे ही आकार को धारण कर लेता है। जैसे दीपक को किसी घड़े के नीचे रख दिया जाय तो उसका प्रकाश घड़े में

समा जाता है। यदि उस दीपक को विशाल कमरे में रख दें तो वही प्रकाश फैलकर सारे कमरे में भर जाता है। इसी तरह आत्म-प्रदेशों का सकोच-विस्तार होता है।

संख्या की दृष्टि से जीव (आत्मा) अनन्त हैं। जो लोग यह मानते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांच महाभूतों के संयोग से आत्मा उत्पन्न होता है, उनके वियोग से आत्मा नष्ट हो जाता है, उनका कथन उचित नहीं है। क्योंकि पृथक् गुणवाले पदार्थों के समुदाय से किसी अपूर्व गुणवाले पदार्थ की निष्पत्ति नहीं होती; जैसे रुक्ष बालू के कणों के समुदाय से स्निग्ध तेल की उत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही चैतन्य गुणवाली आत्मा की. जड़त्व गुणवाले भूतों से उत्पत्ति नहीं हो सकती। जड़ से चेतन की उत्पत्ति कभी संभव नहीं है।

पाँच इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय का ही परिज्ञान करती हैं। एक इन्द्रिय द्वारा जाने हुए विषय को दूसरी इन्द्रिय नहीं जानती, किन्तु पांचों इन्द्रियों के जाने हुए विषय को समष्टि रूप से अनुभूति करने वाला आत्मा है। शरीर में जब तक आत्मा है तभी तक इन्द्रियां अपना कार्य करती है और उनमें एकसूत्रता बनी रहती है।

आत्मा, इद्रिय और मन से जाना नहीं जा सकता, क्योंकि वह अभौतिक है, अतः अमूर्त है, अमूर्त तत्त्व

सिर्फ अनुभूतिगम्य होता है। 'मैं' या 'अहं' का वोध ही उसकी सत्ता का सूचक है। आत्मा के दो भेद हैं—(१) संसारी, और (२) मुक्त। मुक्त आत्मा का एक ही रूप है, उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। ससारी आत्मा के, कर्म के कारण से विविध भेद हैं, जैसे मनुष्य, नारकीय, पशु आदि।

कर्मवाद—

आत्मा में जो विभेद, ऊँच-नीच, सुखी-दुखी दिखाई देता है, उसका कारण 'कर्म' है। आत्मा स्वय ही कर्म का कर्ता है, और उसी के कारण वह सुखी दुखी होता है। जैनदर्शन का कर्म सिद्धान्त वहुत ही गहन चिन्तन लिए हुए है। कर्म पर वहुत ही गंभीर, विशद व वैज्ञानिक दृष्टि से चिंतन किया गया है। जैन दृष्टि से—आत्मा के प्रदेशों में कंपन होता है उस कंपन से पुद्गल का परमाणु-पुंज आकर्षित होकर आत्मा से मिल जाता है। वही कर्म है। दूसरे शब्दों में जीव को जो परतन्त्र कर दे वह कर्म है। मिथ्यादर्शन आदि परिणामों से संयुक्त होकर जीव के द्वारा जिनका उपार्जन किया जाता है वह कर्म है।

आत्मा और कर्म ये दोनों स्वतन्त्र पदार्थ हैं। एक चेतन है, दूसरा जड़। चेतन और जड़ का सम्बन्ध नहीं हो सकता, पर दोनों में एक वैभाविक शक्ति है, जो पर का निमित्त पाकर वस्तु का विभाव रूप परिणमन कर देती है।

कर्मबन्धन के पांच कारण हैं—(१) मिथ्यात्व (२) अव्रत (३) प्रमाद (४) कषाय और (५) योग। संक्षेप में कर्म बन्धन के दो कारण हैं— (१) कषाय और (२) योग। शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति योग है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मानसिक आवेग कषाय है। कषाय से रसबन्ध और स्थितिबन्ध होता है। जिस प्रकार कषाय और योग से कर्म बन्धन होता है, उसी प्रकार कर्म मुक्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप का विधान है। संक्षेप में ज्ञान और क्रिया—यह मोक्ष का मार्ग है कर्ममुक्ति का साधन है।

कर्म के मूल आठ भेद हैं :—

(१) **ज्ञानावरणीय कर्म**—जिससे आत्मा की ज्ञान-शक्ति आच्छादित होती है वह ज्ञानावरणीय कर्म है। जैसे आंखों पर लगी हुई कपड़े की पट्टी देखने में बाधा डालती है वैसे ही ज्ञानावरण कर्म है। ज्ञान आत्मा का निजगुण होने से चाहे कितना भी ज्ञानावरण कर्म क्यों न हो, तो भी आत्मा सर्वथा ज्ञानशून्य नहीं होता। जैसे घनघोर घटाओं के होने पर भी दिन-रात का भेद जाना जाता है, इसी तरह ज्ञानावरण कर्म का उदय होने पर भी आत्मा में इतनी चेतना विद्यमान रहती है, जिससे उसे जड़ से पृथक् किया जा सके।

(२) **दर्शनावरणीय कर्म**—यह आत्मा की दर्शन शक्ति को ढंकने-वाला कर्म है, इससे जीव की पदार्थों का

देखने की शक्ति आवृत्त होती है। जैसे द्वारपाल अधिकारी से मिलने में रुकावट डालता है. वैसे दर्शनावरण आत्मा को पदार्थों का दर्शन करने में वाधा डालता है।

(३) **वेदनीय कर्म**—इस कर्म के कारण आत्मा को सांसारिक अनुकूल-प्रतिकूल विषयों से उत्पन्न सुख-दुःख का वेदन होता है। इस कर्म को मधुलिप्त तलवार की उपमा दी गई है। सुख-दुख संवेदना का कारण भी यही है।

(४) **मोहनीय कर्म**—आत्मा के हित-अहित को न पहचान कर और सत्य आचरण की बुद्धि को विकृत करने वाला यह कर्म है। मोहनीय कर्म मदिरा के सदृश है जा मानव को विवेक-भ्रष्ट कर देता है। यह कर्म सब से मुख्य है। अतः इसे कर्मों का कारण कहा जाता है।

(५) **आयुष्यकर्म**—जीवों की जीवन अवधि का नियामक कर्म आयुष्य है। इस कर्म के अस्तित्व से प्राणी जीवित रहता है और क्षय होने पर मृत्यु का वरण करता है। इस कर्म की तुलना कारागृह से की गई है। अपराधी के चाहने पर भी अवधि के पूर्ण हुए बिना वह मुक्त नहीं हो सकता, इसी प्रकार आयुष्य कर्म शरीर में जीव को बाँधे रखता है।

(६) **नामकर्म**—जिस कर्म से जीव में गति आदि के भेद उत्पन्न हों, देहादि को भिन्नता उत्पन्न हो, अथवा जिससे गत्यन्तर जैसे परिणमन हो, वह नामकर्म है। इस कर्म की तुलना चित्रकार से की गई हैं। जैसे चित्रकार

कल्पना से मानव, पशु पक्षी आदि विविध प्रकार के चित्र बनाता है, ऐसे नामकर्म भी नारक, तिर्यञ्च, मानव और देव आदि के शरीरों की रचना करता है। इस कर्म से शरीर, अंगोपांग, इन्द्रिय, आकृति, शरीरगठन, यश, अपयश आदि का निर्माण होता है।

(७) **गोत्रकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव को उत्पत्ति उच्च या नीच, पूज्य या अपूज्य, गोत्र, कुल, वंश आदि में हो अर्थात् जिस कर्म के प्रभाव से जीव उच्चावच्च कहलाता है वह गोत्रकर्म है। इसकी तुलना कुम्भकार से की गई है। कुम्भकार अनेक प्रकर के घड़ों को निर्माण करता है। कितने ही घड़े चन्दन आदि से अर्चित किये जाते हैं और कितने ही मदिरा आदि रखने के काम में आते हैं। इसी तरह इस कर्म के उदय से जीव श्लाघ्य और अश्लाघ्य कुल में उत्पन्न होता है।

(८) **अन्तराय कर्म**—जिस कर्म के उदय से देने-लेने में तथा एक वार या अनेक वार भोगने और सामर्थ्य प्राप्त करने में अवरोध उपस्थित हो वह अन्तराय कर्म है। इस कर्म की तुलना राजा के भण्डारी से की गई है। राजा के आदेश देने पर भी भण्डारी विघ्न डालता रहता है। वैसे ही यह कर्म है।

इन आठ कर्मों की अनेक उत्तर प्रकृतियाँ हैं।

जैसे जीव कर्म बांधने में स्वतन्त्र है, वैसे ही उसका फल ईश्वर आदि नहीं देता, स्वयं ही उसका फल भोगता है। जैसे मकड़ी स्वयं जाल बुनती है और स्वयं उसमें

देखने की शक्ति आवृत्त होती है। जैसे द्वारपाल अधिकारी से मिलने में रुकावट डालता है, वैसे दर्शनावरण आत्मा को पदार्थों का दर्शन करने में वाधा डालता है।

(३) **वेदनीय कर्म**—इस कर्म के कारण आत्मा को सांसारिक अनुकूल-प्रतिकूल विषयों से उत्पन्न सुख-दुःख का वेदन होता है। इस कर्म को मधुलिप्त तलवार की उपमा दी गई है। सुख-दुख संवेदना का कारण भी यही है।

(४) **मोहनीय कर्म**—आत्मा के हित-अहित को न पहचान कर और सत्य आचरण की बुद्धि को विकृत करने वाला यह कर्म है। मोहनीय कर्म मदिरा के सदृश है जा मानव को विवेक-भ्रष्ट कर देता है। यह कर्म सब से मुख्य है। अतः इसे कर्मों का कारण कहा जाता है।

(५) **आयुष्यकर्म**—जीवों की जीवन अवधि का नियामक कर्म आयुष्य है। इस कर्म के अस्तित्व से प्राणी जीवित रहता है और क्षय होने पर मृत्यु का वरण करता है। इस कर्म की तुलना कारागृह से की गई है। अपराधी के चाहने पर भी अवधि के पूर्ण हुए विना वह मुक्त नहीं हो सकता, इसी प्रकार आयुष्य कर्म शरीर में जीव को बाँधे रखता है।

(६) **नामकर्म**—जिस कर्म से जीव में गति आदि के भेद उत्पन्न हों, देहादि की भिन्नता उत्पन्न हो, अथवा जिससे गत्यन्तर जैसे परिणमन हो, वह नामकर्म है। इस कर्म की तुलना चित्रकार से की गई हैं। जैसे चित्रकार

कल्पना से मानव, पशु पक्षी आदि विविध प्रकार के चित्र बनाता है, ऐसे नामकर्म भी नारक, तिर्यञ्च, मानव और देव आदि के शरीरों की रचना करता है। इस कर्म से शरीर, अंगोपांग, इन्द्रिय, आकृति, शरीरगठन, यश, अपयश आदि का निर्माण होता है।

(७) **गोत्रकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव की उत्पत्ति उच्च या नीच, पूज्य या अपूज्य, गोत्र, कुल, वंश आदि में हो अर्थात् जिस कर्म के प्रभाव से जीव उच्चावच्च कहलाता है वह गोत्रकर्म है। इसकी तुलना कुम्भकार से की गई है। कुम्भकार अनेक प्रकर के घड़ों को निर्माण करता है। कितने ही घड़े चन्दन आदि से अर्चित किये जाते हैं और कितने ही मदिरा आदि रखने के काम में आते हैं। इसी तरह इस कर्म के उदय से जीव श्लाघ्य और अश्लाघ्य कुल में उत्पन्न होता है।

(८) **अन्तराय कर्म**—जिस कर्म के उदय से देने-लेने में तथा एक बार या अनेक बार भोगने और सामर्थ्य प्राप्त करने में अवरोध उपस्थित हो वह अन्तराय कर्म है। इस कर्म की तुलना राजा के भण्डारी से की गई है। राजा के आदेश देने पर भी भण्डारी विघ्न डालता रहता है। वैसे ही यह कर्म है।

इन आठ कर्मों की अनेक उत्तर प्रकृतियाँ हैं।

जैसे जीव कर्म बांधने में स्वतन्त्र है, वैसे ही उसका फल ईश्वर आदि नहीं देता, स्वयं ही उसका फल भोगता है। जैसे मकड़ी स्वयं जाल बुनती है और स्वयं उसमें

फस जाती है, उसे फंसाने के लिए अन्य किसी की आवश्यकता नहीं, वैसे ही जीव भी स्वयं शुभ-अशुभ कर्म करता है और स्वयं कर्म के प्रभाव से उसका फल भोग लेता है। जैसा बोता है वैसा काटता है। जो कर्म वान्धे हैं, वे कर्म अवश्य ही भोगे जाते हैं। कर्म बांधते समय हम स्वतन्त्र हैं, पर कर्म वान्ध लेने के पश्चात् हम चाहें कि उसका फल न मिले यह संभव नहीं है। भगवान महावीर ने कहा है—**कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि**।[1]

कर्म का सिद्धान्त कार्य-कारण का सिद्धान्त है। भाव कर्म से द्रव्य कर्म और द्रव्य कर्म से भाव कर्म उत्पन्न होते हैं, जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज। भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से भावकर्म की परम्परा अनादि है। परन्तु पुरुषार्थ से उस कर्म वन्ध को रोका जा सकता है, बदला जा सकता है। जो अनादि है उसका अन्त नहीं होता, यह नियम सामुदायिक है; व्यक्ति विशेष पर लागू नहीं होता। स्वर्ण और मृत्तिका का, घी और दूध का सम्बन्ध अनादि है, फिर भी वे पृथक् होते हैं; ऐसे ही आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि होने पर भी वे पृथक् होते हैं। यह सम्बन्ध प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है; व्यक्तिश: नहीं। आत्मा पर जितने कर्म पुद्गल चिपकते हैं उनकी कुछ न कुछ अवधि होती है। कोई भी कर्म

---

१. उत्तराध्ययन ४।१३

अनादिकाल से आत्मा के साथ घुल-मिलकर नहीं रहता जब आत्मा मोक्ष की उचित सामग्री को पाता है तब उसका आश्रव रुक जाता है और जो कर्म संचित है, उसे तप-जप के द्वारा नष्ट कर आत्मा कर्म-मुक्त बन जाता है।

लेश्या—

जैनदर्शन के कर्म-सिद्धान्त को समझने के लिए लेश्या को समझना आवश्यक है। **"लिश्यते-श्लिष्यते आत्मा कर्मणा सहानयेति लेश्या"**—आत्मा जिसके सहयोग से कर्मों से लिप्त होता है वह **"लेश्या"** है। लेश्या पुद्गल द्रव्य के संसर्ग से उत्पन्न होनेवाला जीव का परिणाम व अध्यवसाय विशेष है। आत्मा चेतन है, वह अचेतन स्वरूप से पूर्णतया पृथक् है। तथापि संसार अवस्था में उसका अचेतन पुद्गल द्रव्य के साथ बहुत ही गहरा सम्बन्ध रहता है। अतः अचेतन द्रव्य से उत्पन्न परिणामों का जीव पर असर होता है। जिन पुद्गल-विशेषों से जीव के विचार प्रभावित होते हैं, वे भी लेश्या कहलाती है। जीव के जैसे मनोभाव होते हैं, वैसी ही लेश्याएँ हो जाती हैं, अथवा लेश्या के अनुसार मनोभाव भी बदलते हैं। लेश्याएँ पौद्‌गलिक हैं। अतः उनमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श हैं। उन पौद्‌गलिक रंगों के आधार पर ही लेश्याओं का नामकरण—कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या हुआ है।

फस जाती है, उसे फंसाने के लिए अन्य किसी की आवश्यकता नहीं, वैसे ही जीव भी स्वयं शुभ-अशुभ कर्म करता है और स्वयं कर्म के प्रभाव से उसका फल भोग लेता है। जैसा बोता है वैसा काटता है। जो कर्म बान्धे हैं, वे कर्म अवश्य ही भोगे जाते हैं। कर्म बांधते समय हम स्वतन्त्र हैं, पर कर्म बान्ध लेने के पश्चात् हम चाहें कि उसका फल न मिले यह संभव नहीं है। भगवान महावीर ने कहा है—**कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।**[1]

कर्म का सिद्धान्त कार्य-कारण का सिद्धान्त है। भाव कर्म से द्रव्य कर्म और द्रव्य कर्म से भाव कर्म उत्पन्न होते हैं, जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज। भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से भावकर्म की परम्परा अनादि है। परन्तु पुरुषार्थ से उस कर्म बन्ध को रोका जा सकता है, बदला जा सकता है। जो अनादि है उसका अन्त नहीं होता, यह नियम सामुदायिक है; व्यक्ति विशेष पर लागू नहीं होता। स्वर्ण और मृत्तिका का, घी और दूध का सम्बन्ध अनादि है, फिर भी वे पृथक् होते हैं; ऐसे ही आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि होने पर भी वे पृथक् होते हैं। यह सम्बन्ध प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है; व्यक्तिशः नहीं। आत्मा पर जितने कर्म पुद्गल चिपकते हैं उनकी कुछ न कुछ अवधि होती है। कोई भी कर्म

१. उत्तराध्ययन ४।१३

अनादिकाल से आत्मा के साथ घुल-मिलकर नहीं रहता जब आत्मा मोक्ष की उचित सामग्री को पाता है तब उसका आश्रव रुक जाता है और जो कर्म संचित है, उसे तप-जप के द्वारा नष्ट कर आत्मा कर्म-मुक्त बन जाता है।

लेश्या—

जैनदर्शन के कर्म-सिद्धान्त को समझने के लिए लेश्या को समझना आवश्यक है। **"लिश्यते-श्लिष्यते आत्मा कर्मणा सहानयेति लेश्या"**—आत्मा जिसके सहयोग से कर्मों से लिप्त होता है वह **"लेश्या"** है। लेश्या पुद्‌गल द्रव्य के संसर्ग से उत्पन्न होनेवाला जीव का परिणाम व अध्यवसाय विशेष है। आत्मा चेतन है, वह अचेतन स्वरूप से पूर्णतया पृथक् है। तथापि संसार अवस्था में उसका अचेतन पुद्‌गल द्रव्य के साथ बहुत ही गहरा सम्बन्ध रहता है। अत: अचेतन द्रव्य से उत्पन्न परिणामों का जीव पर असर होता है। जिन पुद्‌गल-विशेषों से जीव के विचार प्रभावित होते हैं, वे भी लेश्या कहलाती है। जीव के जैसे मनोभाव होते हैं, वैसी ही लेश्याएँ हो जाती हैं, अथवा लेश्या के अनुसार मनोभाव भी बदलते हैं। लेश्याएँ पौद्‌गलिक हैं। अत: उनमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श हैं। उन पौद्‌गलिक रंगों के आधार पर ही लेश्याओं का नामकरण—कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या हुआ है।

प्रारम्भ की तीन लेश्याएँ अप्रशस्त हैं। अतः वे दुर्गति के कारण हैं और बाद की तीन लेश्या प्रशस्त है, इसलिए वे सुगति के कारण है। लेश्या के भी (१) द्रव्य और (२) भाव ये दो भेद हैं। द्रव्यलेश्या पुद्गल विशेष है, अनन्त प्रदेशी है, उसकी अनन्त वर्गणाएँ हैं, यह आत्मा को छोड़कर अन्यत्र परिणमन नहीं करती। यह परिणामी और अपरिणामी दोनों है। यह द्रव्यलेश्या कर्म-पुद्गल, कषायद्रव्य, द्रव्यमन के पुद्गलों से स्थल है और औदारिक शरीर के पुद्गल, शब्द पुद्गल, तेजस् शरीर के पुद्गल से सूक्ष्म है। यह इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं की जा सकती। पर मन, वचन, काया के योग के द्वारा द्रव्य लेश्या ग्रहण की जा सकती है।

भावलेश्या आत्मा का परिणाम विशेष है जो संश्लेष और योग से अनुबद्ध है। भावलेश्या रूप, रस गंध, वर्ण और स्पर्श से रहित है। यह क्षय, उपशम और क्षयोपशम भाव से मुक्त है। जैन तत्वदर्शन का यह संक्षिप्त स्वरूप है।

४ जैन साहित्य

जैन साहित्य—

भारतीय साहित्य के विकास में जैन मनीषियों का अपूर्व योगदान रहा है। उन्होंने भाषावाद, प्रान्तवाद की संकीर्णता से ऊपर उठकर जन-जीवन के उत्कर्ष के लिए विविध भाषाओं में और विविध विषयों पर साहित्य का सृजन किया। अध्यात्म, योग, तत्त्वनिरूपण, दर्शन, न्याय, काव्य, नाटक, इतिहास, पुराण, नीति, अर्थशास्त्र, व्याकरण, कोश छन्द-अलंकार, भूगोल, खगोल, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद मंत्र-तंत्र, संगीत, रत्न-परीक्षा आदि विषयों पर भी साधिकार लिखा है।

प्राकृत भाषा में जैन साहित्य—

अंग—जैनों का प्राचीनतम साहित्य प्राकृत भाषा में है। भगवान महावीर के पावन उपदेशों को गणधरों ने सूत्र रूप में रचा, वह 'गणिपिटक' नाम से विश्रुत हुआ। गणिपिटक में बारह अंग है, जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं— (१) आचारांग (२) सूत्रकृतांग (३) स्थानांग (४) समवायांग (५) भगवती (६) ज्ञाता धर्म कथा (७) उपासकदशांग (८) अन्तकृद्दशांग (९) अनुत्तरोपपातिक दशा (१०) प्रश्नव्याकरण (११) विपाक (१२) दृष्टिवाद।

उपांग—उसके पश्चात् निम्नलिखित उपांग तथा मूल और छेद बने :—(१) औपपातिक (२) राजप्रश्नीय (३) जीवाभिगम (४) प्रज्ञापना (५) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (६) सूर्यप्रज्ञप्ति (७) चन्द्रप्रज्ञप्ति (८) कल्पावतंसिका (१०) पुष्पिका (११) पुष्प चूलिका और (१२) वृष्णिदशा।

मूलसूत्र—(१) दशवैकालिक (२) उत्तराध्ययन (३) अनुयोगद्वार (४) नन्दीसूत्र आदि।

छेद-सूत्र—(१) निशीथ (२) व्यवहार (३) बृहत्कल्प (४) दशाश्रुतस्कंध तथा आवश्यक सूत्र।

स्थविरों ने हजारों प्रकरण ग्रन्थ लिखे। उनके पश्चात् आगमों पर व्याख्या साहित्य लिखा गया। निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णी ये तीनों प्राकृत भाषा में है। निर्युक्ति और भाष्य पद्यात्मक है, चूणियाँ गद्यात्मक हैं। चूणियाँ संस्कृत मिश्रित प्राकृत में लिखी गई हैं।

निर्युक्तियाँ—(१) आवश्यक निर्युक्ति (२) दशवैकालिक नि० (३) उत्तराध्ययन नि० (४) आचारांग नि० (५) सूत्रकृतांग नि० (६) दशाश्रुतस्कंध नि० (७) बृहत्कल्प नि० (८) व्यवहार नि० (९) पिण्ड नि० (१०) ओघ नि० (११) ऋषि भाषित निर्युक्ति।

भाष्य—(१) विशेषावश्यक भाष्य (२) दशवैकालिक भाष्य (३) पंचकल्प भाष्य (४) बृहत्कल्प भाष्य (५) पंचकल्प महा भाष्य (६) व्यवहार भाष्य (७) निशीथ भाष्य (८) जीतकल्प भाष्य (९) ओघनिर्युक्ति लघु भाष्य (१०) पिण्डनिर्युक्ति भाष्य।

चूर्णियां—(१) आवश्यक चूर्णि (२) दशवैकालिक (३) नन्दी (४) अनुयोगद्वार (५) उत्तराध्ययन (६) आचारांग (७) सूत्रकृताङ्ग (८) निशीथ (९) व्यवहार (१०) दशाश्रुतस्कंध (११) बृहत्कल्प (१२) जीवाभिगम (१३) भगवती (१४) महानिशीथ (१५) जीतकल्प (१६) पंचकल्प (१७) ओघनिर्युक्ति चूर्णि।

दिगम्बराचार्यों ने उपर्युक्त श्वेतांबर मान्य आगम ग्रन्थों को यथार्थ न मानकर प्राकृत भाषा में आगम ग्रन्थों की रचना की—"षट्खण्डागम", यह उनका आद्य ग्रन्थ है। इसके रचयिता पुष्पदन्त और भूतबली आचार्य हैं। उसके पश्चात् आचार्य गुणधर ने "कषायप्राभृत" की रचना की। आचार्य वीरसेन ने षट्खण्डागम पर 'धवला टीका' लिखी और कषायप्राभृत पर भी टीका लिखी। आचार्य कुन्दकुन्द ने "प्रवचनसार" 'समयसार', 'पंचास्तिकाय' तथा आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने 'गोम्मटट सार' 'लब्धिसार' आदि ग्रन्थ लिखे। आगम साहित्य के अतिरिक्त श्वेताम्बर और दिगम्बरों ने प्राकृत भाषा में काव्य साहित्य भी लिखा। पादलिप्त सूरि की 'तरंगवई', विमलसूरि की 'पउमचरियं', संघदास गणी की 'वसुदेव हिण्डी', हरिभद्रसूरि की 'समराइच्च कहा' आदि महत्वपूर्ण कृतियां हैं। इसके अतिरिक्त व्याकरण, निमित्त, ज्योतिष, सामुद्रिक, आयुर्वेद पर भी प्राकृत भाषा में प्रचुर साहित्य है। भाषा की दृष्टि से श्वेताम्बर साहित्य मराठी प्राकृत में है और दिगम्बर साहित्य शौरसेनी प्राकृत में हैं।

संस्कृत भाषा में जैन साहित्य–

जैन विद्वानों ने प्राकृत की तरह संस्कृत भाषा में भी जम कर लिखा है। कहा जाता है "पूर्व संस्कृत भाषा में थे"। वर्तमान मे उपलब्ध साहित्य में "तत्त्वार्थसूत्र" प्रथम संस्कृत ग्रन्थ है जिसकी रचना तीसरी शताब्दी में हुई। और उस पर श्वेतांबर और दिगम्बर दोनों विद्वानों ने संस्कृत भाषा में टीकाएँ लिखीं। दार्शनिक साहित्य का विकास "तत्त्वार्थसूत्र" को केन्द्र में रखकर हुआ। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की 'न्यायावतार' "बत्तीस द्वात्रिंशिकाएं" आदि महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। आचार्य समन्तभद्र की "देवागम स्तोत्र" "युक्त्यनुशान" "स्वयंभू स्तोत्र" आदि श्रेष्ठ रचनाएँ हैं। अकलंक, विद्यानन्द, हरिभद्र, जिनसेन, सिद्धर्षि, हेमचन्द्र, देवसूरि, यशोविजय जो आदि ने अनेक दार्शनिक ग्रन्थों की रचनायें कीं। आठवीं शती में आचार्य हरिभद्र ने सर्वप्रथम आगम ग्रन्थों पर संस्कृत भाषा में टीकाएँ लिखीं। उन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, नंदी अनुयोगद्वार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, जीवाभिगम पर विशद टीकाएँ लिखीं। जैन योग पर भी आपने चार महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। आचार्य शीलांक ने आचारांग, सूत्रकृतांग सूत्र पर टीकाएँ लिखीं। आचार्य अभयदेव ने नव अंगों पर टीकाएँ लिखीं। मलधारी हेमचन्द्र ने 'अनुयोग द्वार' पर, आचार्य मलयगिरि ने 'नन्दी, प्रज्ञापना, जीवाभिगम, बृहत्कल्प, व्यवहार,

राजप्रश्नीय, चन्द्रप्रज्ञप्ति और आवश्यक पर टीकाएँ लिखीं। दशवैकालिक और उत्तराध्ययन पर अनेक विद्वानों ने टीकाएँ लिखी हैं।

संस्कृत व्याकरण—जैनेन्द्र व्याकरण शाकटायनकृत शब्दाम्भोज भास्कर, हेमशब्दानुशासन, शब्दसिद्धिव्याकरण, मलयगिरि व्याकरण, देवानन्द व्याकरण आदि। कोष ग्रन्थों में—धनञ्जय नाममाला, अपवर्गनाममाला, अमरकोश, अभिधान चिन्तामणि, शारदीयनाममाला आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

काव्यक्षेत्र में अनेक पद्यमय और गद्यमय ग्रन्थ रचे गये हैं, जैसे, पार्श्वाभ्युदय, द्विसन्धानमहाकाव्य, यशस्तिलक चम्पू, भरत-बाहुबलि महाकाव्य, द्वयाश्रय काव्य, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, नेमिनिर्वाण महाकाव्य, धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य, यशोधर चरित्र, पांडव चरित आदि।

नाटकों में सत्यहरिश्चन्द्र, राघवाभ्युदय, यशोविलास, रघुविलास, नलविलास, मल्लिकामकरंद, रोहिणीमृगांक, वनमाला, चन्द्रलेखाविजय, मानमुद्राभंजन, प्रबुद्धरोहिणेय, मोह पराजय आदि विशिष्ट रचनायें हैं। "उपमिति भवप्रपंच", कुवलयमाला, आराधना कथाकोश, आख्यान मणिकोश, कथारत्नसागर, आदि कथा-साहित्य उल्लेखनीय है। आदि पुराण, उत्तरपुराण, शांतिपुराण, महापुराण, हरिवंशपुराण आदि महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं, जो पुराण-साहित्य के महत्त्व को द्योतित करते हैं।

नीति सम्बन्धी—नीतिवाक्यामृत, अर्हन्नीति आदि श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। योग संबंधी ग्रन्थों में योगदृष्टि, योगदृष्टि समुच्चय, योगविन्दु, योगशास्त्र, योगविद्या, अध्यात्म-रहस्य, ज्ञानार्णव, योगचिंतामणि, योगदीपिका आदि ग्रन्थ हैं।

छन्द संबंधी ग्रन्थ—छन्दोनुशासन, जयकीर्ति छन्दोनुशासन, छन्दरत्नावली आदि हैं। अलंकार ग्रन्थों में अलंकार चूडामणि, कविशिखा कविकल्पलता, अलंकार प्रबोध, अलंकार महोदधि आदि विविध ग्रंथ हैं। स्तोत्र साहित्य में वीतराग स्तोत्र, भक्तामर, कल्याणमन्दिर, ऋषिमंडल आदि अनेक स्तोत्र हैं।

ज्योतिष सम्बन्धी—ज्योतिष रत्नमाला, गणित तिलक, भुवनदीपक, नार-चन्द्रज्योतिस्सार, बृहत् पर्वमाला आदि और संगीत सम्बन्धी संगीतोपनिषद्, संगीतसार, संगीतमँडल आदि हैं।

जैन मनीषियों ने जैनेतर विद्वानों के ग्रन्थों पर भी टीकाएँ लिखकर अपने उदार मानस का परिचय दिया है; जैसे—पाणिनिव्याकरण पर शब्दावतारन्यास, दिङ्-नाग के न्यायप्रवेश पर वृत्ति, श्रीधर की न्यायकन्दली पर टीका, नागार्जुन की योग रत्नमाला पर वृत्ति, अक्ष-पाद के न्यायसूत्र पर टीका, वात्स्यायन के न्याय भाष्य पर टीका, वाचस्पति की तात्पर्यटीका पर टीका आदि। इसी तरह काव्य साहित्य पर भी टीकायें लिखीं जैसे मेघदूत, रघुवंश, कादम्बरी, कुमारसम्भव, नैषधीय आदि।

कितने ही जैनाचार्यों ने साहित्य के क्षेत्र में नवीन विधाओं का प्रयोग किया है; जैसे समयसुन्दर गणी ने अष्ट लक्षी ग्रन्थ बनाया है, इसमें "राजानो ददते सौख्य" इस पद पर १०२२४०७ अर्थ लिखे हैं। आचार्य कुमुदेन्दु ने "भूवलय" नामक अद्भुत ग्रन्थ अंकों में लिखा है। इसमें चौसठ अंको का प्रयोग हुआ है। सीधी लाइन से पढ़ने पर एक भाषा में श्लोक बनते हैं, खड़ी लाइन से दूसरी भाषा में, टेढ़ी लाइनों से तीसरी भाषा में। इस ग्रन्थ में उत्तर भारत और दक्षिण भारत की भाषाओं का प्रयोग हुआ है। यह अठारह भाषाओं में पढ़ा जा सकता है। इसमें एक करोड़ श्लोकों का अनुमान है और ऐसा कोई विषय नहीं जो उसमें न हो। भारत के प्रथम राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद ने इसे विश्व का अद्भुत आश्चर्य माना है।

अपभ्रंश भाषा में जैन साहित्य—

अपभ्रंश प्रान्तीय भाषाओं की जननी है। अपभ्रंश का प्रथम जैन कवि "जोइन्दु" है। "परमात्मप्रकाश" और 'योगसार' उनकी महत्वपूर्ण रचनायें हैं। उसके पश्चात् स्वयंभू ने 'रामायण' तथा 'हरिवंश' महाकाव्य की रचना की। पुष्पदन्त ने 'महापुराण' लिखा। देवसेन महेश्वरसूरि, पद्मकीर्ति, धनपाल, हरिषेण, नयनन्दी, धवल, वीर,श्रीधर, कनकामर, धाहिल, यशःकीर्ति आदि ने अपभ्रंश में अनेक श्रेष्ठ कृतियां लिखीं। आचार्य हेमचन्द्र ने अपभ्रंश का व्याकरण लिखा। उदाहरण के रूप में

उन्होंने जो दोहे दिये हैं वे वहुत ही सरस हैं। महाकवि रइधू की तेईस कृतियाँ प्राप्त होती हैं।

रास साहित्य के लेखक मुख्य रूप में जैन कवि रहे हैं। उनकी संख्या लगभग ५०० से भी अधिक हैं। रूपक काव्यों में मदनपराजय चरिउ, मयणजुज्झ, सन्तोष तिलक, जयमाल, मनकरहा रास, आदि अपभ्रंश साहित्य के विशिष्ट ग्रन्थ हैं।"अपभ्रंश भाषा अन्य भाषाओं को जोड़ने वाली कडी के रूप में रही हैं। अभी तक अपभ्रंश साहित्य वहुत ही कम प्रकाशित हुआ है। सारा साहित्य प्रकाशित होने पर अन्य अनेक नये तथ्य उजागर हो सकते हैं।

इन प्राचीन भाषाओं के अतिरिक्त अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी जैन साहित्य प्रचुर मात्रा में लिखा गया है। जैन कवियों ने साहित्य की सभी धाराओं में अवगाहन किया है।

कन्नड भाषा में जैन साहित्य

कर्नाटक में अतीतकाल से ही जैनधर्म जनधर्म के रूप में जनप्रिय रहा है। गंग,कदंब,राष्ट्रकूट, चालुक्य, होयसल आदि वंशों के राजा, सामंत, सेनापति तथामंत्रीगण इस धर्म से प्रभावित रहे हैं। और जनसाधारण इस धर्म को अपनाने में अपना गौरव अनुभव करता रहा है। यही कारण है, कि श्रवणबेल गोला, पोदनपुर, कोप्पल, पुन्नाडु हुमच, मूडबिद्री, वेणूर, कार्कल आदि प्रसिद्ध स्थल इस वात के प्रतीक हैं।

प्राचीन कन्नड़ साहित्य का प्रारम्भ जैन कवियों से ही हुआ है। कन्नड़ का प्राचीनतम ग्रन्थ कवि राजमार्ग जिसका ईसवी सन् ५ वीं शती से ६ वीं शती के मध्य संकलन हुआ, जैन कवि श्रीविजय द्वारा रचित है, इन्हीं की एक कृति 'चन्द्र प्रभु पुराण' अपने आप में एक अनूठी कृति है। एक और महाकवि असंग ने जैन धर्म से सम्बन्धित आठ पुस्तकें लिखीं, उनमें 'शांतिपुराण' और वर्धमान चरित्र मुख्य है। ई० सन् की ९ वीं शती से १२ वीं शताब्दी का काल कन्नड़ साहित्य का स्वर्ण युग माना जाता है। इसी काल में कर्नाटक में जैन धर्म का सर्वतोमुखी प्रचार हुआ। अनेक विद्वान जैन धर्म की ओर आकृष्ट हुए। कन्नड़ के जैन साहित्यकारों में कवि पम्प, महाकवि चक्रवर्ती पौन और महाकवि रत्न विशेष उल्लेखनीय हैं। इन तीनों कवियों को कन्नड़ साहित्य का 'रत्नत्रय' कहा जाता है। ये तीनों जैन मतानुयायी थे। 'आदिपुराण, और 'विक्रमार्जुन विजय' ये दोनों काव्य पम्प की महान् उपलब्धियाँ हैं। चक्रवर्ती पौन ने जैन धर्म से सम्बन्धित 'शांतिपुराण' 'जिनाक्षर मल्लि' और 'भुवनैक रामाभ्योदय' तीन महाकाव्य लिखे। और महाकवि रत्न ने 'अजितपुराण, साहस भीमसेन विजय, परशुराम चरित और चक्रेश्वर चरित' इन चार ग्रन्थों की रचना की।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त कर्णापार्य (नेमिनाथ पुराण), रत्न (गदायुद्ध और अजित पुराण) चावुण्डराय

(त्रिषष्टि शलाका पुरुष पुराण और चामुण्डराय पुराण) अभिनव पंप नागचन्द्र (मल्लिनाथ पुराण और रामचन्द्र चरित पुराण) बन्धुवर्मा (हरिवंश पुराण) कुमुदेन्दु (रामायण), रत्नाकरवर्णी (भरतेश वैभव) आण्डय्या (कब्बिगर काव) अभिनव वाग्देवी कन्ती आदि प्रमुख रूप से गिनाये जा सकते हैं।

तमिलभाषा में जैन साहित्य—

दक्षिण भारत में ईसवी सन् से पूर्व में जैन धर्म अत्यधिक लोकप्रिय रहा। तमिल भाषा और साहित्य में जैन कवियों और विद्वानों ने इतना योग दिया कि तमिल भाषा सदैव उनकी ऋणी रहेगी। 'तोलकाप्पियम' तमिल भाषा का प्राचीन व्याकरण ग्रंथ है, जिसे किसी जैन-विद्वान ने लिखा। 'तिरुक्कुरल' काव्य तमिलवासियों का नीतिशास्त्र व समाजशास्त्र माना जाता है इसमें कुल १३३० पद हैं इसे तमिलवासी 'तमिलवेद' के नाम से पुकारते हैं। एक परम्परा की दृष्टि से इसके रचयिता आचार्य कुन्दकुन्द (एलाचार्य) हैं, दूसरी परम्परा के अनुसार 'तिरूवल्लुवर' थे। तिरुवल्लुवर को कुछ विद्वान जैन धर्मानुयायी कहते हैं, तो कुछ शैव मतानुयायी। 'नालिडयार' यह संग्रह ग्रंथ है। उत्तर में दुष्काल के कारण आठ हजार श्रमण दक्षिण के पाण्ड्य देश में आये थे और पुनः लौटते समय ताड़पत्र पर एक-एक सन्त ने एक-एक पद्य लिखे। पश्चात् इन्हीं पद्यों का संग्रह 'नालडियार' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह नीति का

एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। नालडियार ग्रन्थ के सम्बन्ध में कुछ विज्ञों की यह धारणा है यह चतुर्थशती की रचना है। चेरन राज्य में वज्रदन्त मुनि हुए जो मेधावी थे उन्होंने चार-चार पंक्तियों में रचना की। चार को तामिल में नाल कहते हैं। शैव विज्ञों ने वज्रदन्त मुनि के नाम को छिपाने के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ को नाल-डियार के नाम से विश्रुत किया।

प्राचीन तमिल में पाँच महाकाव्य हैं 'शिलप्पदिकार', 'वलयापति', 'जीवक चिन्तामणि,' 'कुण्डलकेशी' और 'मणिमेखलै'। विज्ञों का मत है, कि इन पाँच महाकाव्यों में से तीन जैन लेखकों के द्वारा लिखे हुए हैं और दो बौद्ध लेखकों के द्वारा लिखे गये हैं। वलयापति और कुण्डलकेशी ये दो महाकाव्य आज उपलब्ध नहीं है। ये काव्य ईसा की दूसरी शती से लेकर आठवीं शती के बीच रचे गये। शिलप्प-दिकार' के रचयिता चेर के युवराज कुमार महाकवि इलंगो-अडिगढ़ थे, जो बाद में जैन श्रमण बन गए थे। 'जीवक चिन्तामणि' महाकवि 'तिरुत्तकदेवर' जो जैन दर्शन के धुरन्धर विद्वान माने जाते हैं, उनके द्वारा लिखा गया है। इसमें कवि ने शृंगार और वैराग्य का सुन्दर चित्रण किया है। इस काव्य का तमिलनिवासी विवाह के अवसर पर पठन करते हैं, अतः तमिल निवासियों का यह विवाह-ग्रंथ है, तो जैनियों का धर्म ग्रन्थ। 'वलयापति' आज अनुपलब्ध है, तथापि अन्य काव्य ग्रन्थों से पता चलता है, कि इसमें अहिंसा,

एवं सद्‌भावना रखने का अति सुन्दर वर्णन है। मणि-मेखलै और कुंडलकेशी बौद्ध मतानुयायियों द्वारा रचित हैं।

तमिल के पाँच लघु काव्य भी 'यशोधर काव्य', 'चूडामणि,' 'नीलकेशी', 'नागकुमार काव्य' और उदय नन कथै' जैन कृतियाँ मानी जाती हैं। इनमें यशोधर काव्य उत्कृष्ट है। वामन मुनि का 'मेरुमन्दपुराण' अज्ञात कवियों के श्री पुराण और कलिंगुत्तुप्परनि जैन ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं। छन्द शास्त्र में 'याप्परुंगलंकारिकै' व्याकरण शास्त्र में नेमिनाथम् और नन्नूलू, कोशक्षेत्र में दिवाकर निघण्टु, पिंगल निघण्टु और चूड़ामणि निघण्टु तथा प्रकीर्ण साहित्य में तिरुनूरन्तादि और 'तिरुक्कलम्बगम्,' गणित साहित्य में ऐंचूवडि तथा ज्योतिष साहित्य में जिनेन्द्र मौलि ग्रन्थ तमिल भाषा के सर्वमान्य जैन ग्रन्थ हैं।

तेलुगु भाषा में जैन साहित्य

जैसे कर्नाटक में कन्नड़, तमिलनाडु में तमिल भाषा वोली जाती है, इसी प्रकार आंध्र प्रदेश में तेलुगु भाषा वोली जाती है। इस भाषा में जैन-साहित्य नहीं के वरा-वर उपलब्ध है। यद्यपि कलिंग के राजा खारवेल, अशोक के पौत्र सम्प्रति आदि अनेक राजाओं तथा आचार्य गुणचन्द्र, आचार्य वसुचन्द्र आचार्य वादिराज आदि अनेक प्रसिद्ध जैनाचार्यों ने आंध्र में जैन धर्म का खूब प्रचार किया था, आज भी ई० पू० ६ ठी शताब्दी

के शिलालेख, मूर्तियाँ या मूर्तियों के अवशेष प्राप्त होते हैं, तथापि किसी जैनाचार्य या जैन विद्वान् ने तेलुगु में कोई ग्रन्थ लिखा हो और जिसकी गणना साहित्य में की जा सके, ऐसा उल्लेख कहीं भी प्राप्त नहीं। आंध्र में विचरण करते हुए आचार्य जिनसेन ने ७८३ ई० में हरिवंश पुराण की रचना की थी, पर यह कृति संस्कृत में रचित है।

आंध्र के एक प्रसिद्ध कवि 'मल्लिय रेचना' का नाम छन्द शास्त्र के महान् कवियों की श्रेणी में आता है, जो जैन मतानुयायी थे। रेचना ने 'कवि जनाश्रय' नामक प्रसिद्ध छन्द ग्रन्थ लिखा था, जो तेलुगु के पुराने छन्दों की जानकारी के लिए बहुत सहायक सिद्ध हुआ है। कुछ विद्वान् उक्त रचना 'वाचकाभरण' की मानते हैं, यह भी जैन मतानुयायी था।

इसके अतिरिक्त आंध्र प्रदेश में तत्कालीन विभिन्न राजाओं एवं आचार्यों द्वारा जैन धर्म का विस्तृत प्रचार-प्रसार होने पर भी तेलुगु भाषा में जैन-साहित्य उपलब्ध नहीं होता। यह एक महान् आश्चर्य है। हो सकता है, जैन धर्म के प्रचार के लिए जैन साधुओं, विद्वानों एवं कवियों ने तेलुगु भाषा का आश्रय लिया हो, पर आज इस बात को सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

इसका एक कारण यह भी हो सकता है ईसवी सन २ री शती से १० शताब्दी तक जो भी जैन साहित्य या

एवं सद्भावना रखने का अति सुन्दर वर्णन है। मणि-मेखलै और कुंडलकेशी बौद्ध मतानुयायियों द्वारा रचित हैं।

तमिल के पाँच लघु काव्य भी 'यशोधर काव्य', 'चूडामणि,' 'नीलकेशी', 'नागकुमार काव्य' और उदय नन कथै' जैन कृतियाँ मानी जाती हैं। इनमें यशोधर काव्य उत्कृष्ट है। वामन मुनि का 'मेरुमन्दपुराण' अज्ञात कवियों के श्री पुराण और कलिंगुत्तुप्परनि जैन ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं। छन्द शास्त्र में 'याप्पसंगलंकारिकै' व्याकरण शास्त्र में नेमिनाथम् और नन्नूल, कोशक्षेत्र में दिवाकर निघण्टु, पिंगल निघण्टु और चूड़ामणि निघण्टु तथा प्रकीर्ण साहित्य में तिरुनूरन्तादि और 'तिरुवकलम्बगम्' गणित साहित्य में ऐंचूवडि तथा ज्योतिष साहित्य में जिनेन्द्र मौलि ग्रन्थ तमिल भाषा के सर्वमान्य जैन ग्रन्थ हैं।

तेलुगु भाषा में जैन साहित्य

जैसे कर्नाटक में कन्नड़, तमिलनाडु में तमिल भाषा बोली जाती है, इसी प्रकार आंध्र प्रदेश में तेलुगु भाषा बोली जाती है। इस भाषा में जैन-साहित्य नहीं के बराबर उपलब्ध है। यद्यपि कलिंग के राजा खारवेल, अशोक के पौत्र सम्प्रति आदि अनेक राजाओं तथा आचार्य गुणचन्द्र, आचार्य वसुचन्द्र आचार्य वादिराज आदि अनेक प्रसिद्ध जैनाचार्यों ने आंध्र में जैन धर्म का खूब प्रचार किया था, आज भी ई० पू० ६ ठी शताब्दी

के शिलालेख, मूर्तियाँ या मूर्तियों के अवशेष प्राप्त होते हैं, तथापि किसी जैनाचार्य या जैन विद्वान् ने तेलुगु में कोई ग्रन्थ लिखा हो और जिसकी गणना साहित्य में की जा सके, ऐसा उल्लेख कहीं भी प्राप्त नहीं। आंध्र में विचरण करते हुए आचार्य जिनसेन ने ७८३ ई० में हरिवंश पुराण की रचना की थी, पर यह कृति संस्कृत में रचित है।

आंध्र के एक प्रसिद्ध कवि 'मल्लिय रेचना' का नाम छन्द शास्त्र के महान् कवियों की श्रेणी में आता है, जो जैन मतानुयायी थे। रेचना ने 'कवि जनाश्रय' नामक प्रसिद्ध छन्द ग्रन्थ लिखा था, जो तेलुगु के पुराने छन्दों की जानकारी के लिए वहुत सहायक सिद्ध हुआ है। कुछ विद्वान् उक्त रचना 'वाचकाभरण' की मानते हैं, यह भी जैन मतानुयायी था।

इसके अतिरिक्त आंध्र प्रदेश में तत्कालीन विभिन्न राजाओं एवं आचार्यों द्वारा जैन धर्म का विस्तृत प्रचार-प्रसार होने पर भी तेलुगु भाषा में जैन-साहित्य उपलब्ध नहीं होता। यह एक महान् आश्चर्य है। हो सकता है, जैन धर्म के प्रचार के लिए जैन साधुओं, विद्वानों एवं कवियों ने तेलुगु भाषा का आश्रय लिया हो, पर आज इस वात को सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

इसका एक कारण यह भी हो सकता है ईसवी सन २ री शती से १० शताब्दी तक जो भी जैन साहित्य या

एवं सद्भावना रखने का अति सुन्दर वर्णन है। मणि-मेखलै और कुंडलकेशी बौद्ध मतानुयायियों द्वारा रचित हैं।

तमिल के पाँच लघु काव्य भी 'यशोधर काव्य', 'चूडामणि,' 'नीलकेशी', 'नागकुमार काव्य' और उदय नन कथै' जैन कृतियाँ मानी जाती हैं। इनमें यशोधर काव्य उत्कृष्ट है। वामन मुनि का 'मेरुमन्दपुराण' अज्ञात कवियों के श्री पुराण और कलिगुत्तुप्परनि जैन ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं। छन्द शास्त्र में 'याप्परुंगलंकारिकै' व्याकरण शास्त्र में नेमिनाथम् और नन्नूलू, कोशक्षेत्र में दिवाकर निघण्टु, पिंगल निघण्टु और चूड़ामणि निघण्टु तथा प्रकीर्ण साहित्य में तिरुनूरन्तादि और 'तिरुक्कलम्वगम्', गणित साहित्य में ऐंचूवडि तथा ज्योतिष साहित्य में जिनेन्द्र मौलि ग्रन्थ तमिल भाषा के सर्वमान्य जैन ग्रन्थ हैं।

तेलुगु भाषा में जैन साहित्य

जैसे कर्नाटक में कन्नड़, तमिलनाडु में तमिल भाषा बोली जाती है, इसी प्रकार आंध्र प्रदेश में तेलुगु भाषा बोली जाती है। इस भाषा में जैन-साहित्य नहीं के बराबर उपलब्ध है। यद्यपि कलिंग के राजा खारवेल, अशोक के पौत्र सम्प्रति आदि अनेक राजाओं तथा आचार्य गुणचन्द्र, आचार्य वसुचन्द्र आचार्य वादिराज आदि अनेक प्रसिद्ध जैनाचार्यों ने आंध्र में जैन धर्म का खूब प्रचार किया था, आज भी ई० पू० ६ ठी शताब्दी

के शिलालेख, मूर्तियाँ या मूर्तियों के अवशेप प्राप्त होते हैं, तथापि किसी जैनाचार्य या जैन विद्वान् ने तेलुगु में कोई ग्रन्थ लिखा हो और जिसकी गणना साहित्य में की जा सके, ऐसा उल्लेख कहीं भी प्राप्त नहीं। आंध्र में विचरण करते हुए आचार्य जिनसेन ने ७८३ ई० में हरिवंश पुराण की रचना की थी, पर यह कृति संस्कृत में रचित है।

आंध्र के एक प्रसिद्ध कवि 'मल्लिय रेचना' का नाम छन्द शास्त्र के महान् कवियों की श्रेणी में आता है, जो जैन मतानुयायी थे। रेचना ने 'कवि जनाश्रय' नामक प्रसिद्ध छन्द ग्रन्थ लिखा था, जो तेलुगु के पुराने छन्दों की जानकारी के लिए वहुत सहायक सिद्ध हुआ है। कुछ विद्वान् उक्त रचना 'वाचकाभरण' की मानते हैं, यह भी जैन मतानुयायी था।

इसके अतिरिक्त आंध्र प्रदेश में तत्कालीन विभिन्न राजाओं एवं आचार्यों द्वारा जैन धर्म का विस्तृत प्रचार-प्रसार होने पर भी तेलुगु भाषा में जैन-साहित्य उपलब्ध नहीं होता। यह एक महान् आश्चर्य है। हो सकता है, जैन धर्म के प्रचार के लिए जैन साधुओं, विद्वानों एवं कवियों ने तेलुगु भापा का आश्रय लिया हो, पर आज इस वात को सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

इसका एक कारण यह भी हो सकता है ईसवी सन २ री शती से १० शताव्दी तक जो भी जैन साहित्य या

वैदिक साहित्य लिखा गया वह सब धर्म विद्वेषियों ने अग्नि के समर्पित कर दिया था। कुछ विद्वानों का मन्तव्य है, कि ११ वीं शताब्दी से पूर्व कोई जैन साहित्य लिखा ही नहीं गया। धर्म विद्वेषी लोग यदि नष्ट भी करते तो परवर्ती कवि, विद्वान या विचारक उसका उल्लेख अवश्य करते।

मराठी भाषा में जैन साहित्य—

मराठी भाषा में जैन विद्वानों ने मौलिक साहित्य कम लिखा है। संस्कृत, प्राकृत ग्रंथों के अनुवाद मुख्य रूप से हुए हैं। मराठी जैन लेखकों की सूची लंबी है। संक्षेप में प्रमुख जैन लेखक हैं—भट्टारक जिनदास (हरिवंश पुराण) गुणदास (श्रेणिक पुराण, रुक्मिणी-हरण, धर्मामृत, पद्म पुराण) मेघराज (यशोधर चरित्र, गिरनारयात्रा) कामराज (सुदर्शन पुराण, चैतन्यफाग) सूरिजन (परमहंस) महाकीर्ति (आदिपुराण) लक्ष्मीचन्द्र, जनार्दन दामा (जंबू चरित्र) गंगादास, जिनसागर, जिनसेन ठकाप्पा (पांडव पुराण) देवेन्द्रकीर्ति (कालिका पुराण) आदि।

गुजराती भाषा में जैन साहित्य—

गुजरात श्वेतांबर परम्परा का मुख्य विहार स्थल रहा है। वहाँ पर सहस्राधिक मुनि-प्रवर हुए हैं। उन्होंने विपुल साहित्य का सृजन किया है। उस संपूर्ण साहित्य का यहाँ परिचय देना संभव नहीं है। "जैन गुर्जर कविओ" ग्रंथ के तीन भागों में गुजराती कवि और उनकी

कृतियों का परिचय दिया गया है। शालिभद्रसूरि का "भरतेश बाहुवलि रास" धम्मू का 'जम्बूरास' विनय-प्रभ का 'गौतम रास' राजशेखर का 'नेमिनाथ फागु' "शालो भद्र रास" 'गौतम पृच्छा'—'जम्बूस्वामी विवाह लो' 'जावड भावड रास' 'सुदर्शन श्रेष्ठी रास' 'विमल' प्रबंध' 'शीलवती रास' 'नल दमयंती रास' आनन्द चौवीसी' 'आनन्दघनबहोत्तरी' आदि विविध ग्रंथ है। गुजराती जैन साहित्य अत्यन्त समृद्ध है और विविध विषयों पर लिखा गया है।

राजस्थानी में जैन साहित्य--

अन्य प्रान्तीय भाषाओं की तरह राजस्थानी भाषा में भी शताधिक जैन कवि हुए हैं जिन्होंने राजस्थानी भाषा में साहित्य का सृजन किया है—भद्रसेनसूरि (भवतेश्वर बाहुवलि घोर) शालिभद्रसूरि (भरतेश बाहुवलि सार) चन्दनवाला रास, जम्बूस्वामी रास, जम्बूस्वामी रास, सुभद्रासती चतुष्पदिका, महावीर रास, शान्तिनाथदेव रास, शालिभद्ररास, वाराव्रत रास, वीस विहरमान रास, श्रावकविधिरास, पद्मावती चौपाई स्थूलीभद्र फाग, शालिभद्र फाग, सीताराम चौपाई, आचार्य जयमलजी की चंदनवाला की सज्झाय, आचार्य जीतमल जी म० के चन्द्रलेहा चरित्र आदि।

प्राचीन काल में गुजराती और राजस्थानी में दोनों भाषाएँ मिली जुली थीं, उन्हें पृथक् करना कठिन है।

हिन्दी व अन्य भाषाओं में जैन साहित्य—

हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है। इस भाषा में जैन मुनियों ने अत्यधिक लिखा है। आधुनिक युग में प्रवन्ध काव्य, मुक्तक काव्य, नाटक, एकांकी, उपन्यास, कहानी लघुकथा, प्रेरक प्रसंग, गद्य काव्य, जीवनियाँ, निवन्ध, प्रवचन, शोध प्रवन्ध आदि साहित्य की समस्त विधाओं में उत्कृष्ट साहित्य का जैन लेखकों के द्वारा सृजन हुआ है और यह कार्य प्रगति पर है।

इसी प्रकार बंगला, उडिया असमिया, पंजाबी आदि अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी जैन साहित्य का समय-समय पर निर्माण हुआ है। जैन लेखकों ने प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य सृजन में भी अपनी उत्कृष्ट रुचि वताई है। उनके द्वारा लिखा गया साहित्य आध्यात्मिक और धार्मिक व सांस्कृतिक प्रेरणा देने वाला रहा है।

साहित्य निर्माण के साथ ही जैन मनीषियों ने साहित्य के संरक्षण में भी अत्यन्त तल्लीनता का परिचय दिया है। उन ज्ञान भण्डारों में जैन साहित्य ही नहीं, अपितु वैदिक परम्परा का और बौद्ध परम्परा का साहित्य भी उन्होंने संग्रह किया। जेसलमेर, पाटण, खम्भात, लीम्वडी, जयपुर, वीकानेर, अहमदावाद, श्रवणवेलगोला, मूडविद्री आदि के प्राचीन संग्रह दर्शनीय है। उनमें हजारों ताड-पत्रीय व कागज के पन्नों के ग्रंथ हैं, हजारों जैनकला के मूर्तिमन्त प्रतीक चित्र हैं, अनेक सचित्र संग्रहणियां और कल्पसूत्र इत्यादि हैं। ❁

५ जैन संस्कृति

जैन संस्कृति मानवता की संस्कृति है। मानवीय गुणों का विकास, सत्य, शील, शौर्य, सदाचार, करुणा, मित्रता, उदारता आदि दिव्य गुणों की प्रतिष्ठा और मानव जीवन का पूर्ण विकास करना इसका ध्येय है। संस्कृति का मानव जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, वह जीवन का सौन्दर्य है, माधुर्य है, जीवन की गरिमा है। जिस समाज की संस्कृति प्राणवन्त है उसका पतन कभी नहीं हो सकता। संस्कृति का यह महान् जय घोष है कि सभी प्राणी सुखी हों, मैं सभी प्राणियों को अपने ही समान समझूँ।' इस प्रकार जैन संस्कृति विचार क्रांति के साथ आचार क्रांति की संस्कृति है। जैन संस्कृति का महामन्त्र नवकार है। वह महामंत्र इस प्रकार है—

"नमो अरिहंताणं।
नमो सिद्धाणं।
नमो आयरियाणं।
नमो उवज्झायाणं।
नमो लोए सव्व साहूणं॥
एसो पंच नमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं॥'।

इन पदों का अर्थ इस प्रकार है—

"नमस्कार हो अरिहन्तों को।
नमस्कार हो सिद्धों को।
नमस्कार हो आचार्यों को।
नमस्कार हो उपाध्यायों को।
नमस्कार हो लोक में सब साधुओं को॥

यह पंच नमस्कार सब पापों का नाश करनेवाला है।

यह सब मंगलों में प्रथम मंगल अर्थात् सर्वोत्तम मंगल है।

जैन संस्कृति का रूप सदा व्यापक रहा है। उसका द्वार सदा सबके लिए खुला रहता है। उसके व्यापक दृष्टिकोण का मूल आधार असाम्प्रदायिक अनेकान्त मुखी भावना रही है। प्रारम्भ से ही जैन धर्म ने सम्प्रदायवाद को प्रश्रय नहीं दिया और न जातिवाद को ही महत्त्व दिया। उसने धर्म को सम्प्रदाय के कारागृह में वन्द नहीं किया। उसने सम्प्रदायों को नहीं, जैनत्व को महत्त्व दिया। जैनत्व का अर्थ है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की आराधना करनेवाला। इन रत्न त्रय की जो भी आराधना करता है फिर भले ही वह किसी भी सम्प्रदाय विशेष में हो, किसी भी वेश-भूषा में हो, वह मुक्ति का अधिकारी हो सकता है। उसने 'अन्यलिंगसिद्धा' 'गृहस्थलिंगसिद्धा' जैसी व्यापक दृष्टि से यह बताया है मुक्ति-लाभ किसी भी वेश और देश में हो सकता है।

कला

जैन संस्कृति में कला का भी गौरवपूर्ण स्थान रहा है। भगवान ऋषभदेव ने पुरुषों के लिए बहत्तर कलाएँ और महिलाओं के लिए चौसठ कलाओं का निरूपण किया। कला का अर्थ वस्तुपरिज्ञान है। कलाओं की सूची में लेखन, गणित, चित्र, नृत्य, गायन, काव्य, शिल्प, स्थापत्य आदि अनेक विषयों का समावेश होता है। जैन कलाकारों ने चित्रकला के क्षेत्र में भी एक कीर्तिमान स्थापित किया है। ताड़पत्र, वस्त्रपट, कागज, भित्ति आदि पर हजारों चित्र चित्रित किये हैं। उनके चित्रों में त्याग, वैराग्य भावना प्रमुख रही है। लिपिकला क्षेत्र में भी जैन श्रमण पीछे नहीं रहे हैं। सौन्दर्य आदि की दृष्टि से उनकी लिपिकला बहुत ही उत्कृष्ट रही। स्थानकवासी स्वर्गीय आचार्य जीतमल जी म. की चित्रकला और लिपि-सौंदर्य दर्शनीय है।

जैन सम्प्रदाय में जो सम्प्रदाय मूर्तिपूजक हैं, उन्होंने मूर्तिकला और स्थापत्यकला का अत्यधिक विकास किया, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के आबू-देलवाड़ा के भव्यमंदिर कला की दृष्टि से अत्यन्त रमणीय है। राणकपुर का मंदिर भी कला का उत्कृष्ट नमूना है। इसी तरह केसरियाजी, सम्मेद शिखर, पावापुरी, पालीताना आदि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के तीर्थस्थलों के रूप में विश्रुत है। तथा दिगम्बर-परम्परा में श्रवण-बेलगोला, अमरावती, मूडबिद्री, गजपंथा, मथुरा आदि की स्थापत्य

और मूर्तिकला उत्कृष्ट मानी जाती है, और वे उन्हें तीर्थस्थलों के रूप में मानते हैं।

विशिष्ट जैन पर्व—

(१) **ओली पर्व**—यह पर्व वर्ष में दो वार मनाया जाता है। चैत्र शुक्ला सप्तमी से प्रारम्भ होकर नौ दिन (पूर्णिमा) तक यह पर्व मनाया जाता है। इसी प्रकार आश्विन शुक्ला सप्तमी से पूर्णिमा तक यह पर्व मनाया जाता है। इस पर्व में '**नव पद**' की आराधना की जाती हैं। नव पद के रंगों की कल्पना है जैसे, नमो अरिहंताणं रंग श्वेत, नमो सिद्धाणं—रंग लाल, नमो आयरियाणं—रंग पीला, नमो उवज्झायाणं—रंग नीला, और नमो लोए सव्वसाहूणं—रंग काला।

"**नमो नाणस्स, नमो दंसणस्स, नमो चरित्तस्स, नमो तवस्स**" इन का रंग श्वेत है। इस प्रकार नव पदों में से प्रतिदिन एक एक पद की आराधना की जाती है। और उस दिन उस रंग के अनुसार रुक्ष, नीरस जिसमें दूध, दही, घी, तेल, गुड, शक्कर, मीठा और पक्वान्न किसी भी प्रकार का स्वादु भोजन न हो, वह भोजन एक स्थान पर बैठ कर दिन में एक वार ग्रहण किया जाता है। यह '**आयंबिल तप**' रस-लोलुपता पर विजय प्राप्त करने का महान् आदर्श है, जिह्वेन्द्रिय का संयम है इसमें साधक को मन मारना पड़ता है। इस पर्व का प्रारम्भ राजा श्रीपाल मैनासुन्दरी-कथानक से है जिससे उनका और कुष्ट रोग से ग्रसित सात सौ व्यक्तियों का

रोग नष्ट हो गया था। यह पर्व "सिद्धचक्र" के नाम से भी विश्रुत है। वास्तव में यह पर्व तपाराधना व इन्द्रिय निग्रह का पर्व है।

(२) **महावीर जयन्ती**—चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को भगवान महावीर का जन्म दिन मनाया जाता है।

(३) **अक्षय तृतीया**—अक्षय तृतीया के पर्व का सम्बन्ध आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव के है। ऋषभ देव ने एक संवत्सर के तप के पश्चात् वैशाख शुक्ला तृतीया को इक्षु रस से पारणा किया जिससे यह पर्व इक्षु तृतीय या अक्षय तृतीया के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जैन गृहस्थ आज भी एक वर्ष तक एकान्तर तप, ब्रह्मचर्य पालन कर इस वर्षी तप की आराधना करते हैं।

(४) **रक्षा बन्धन**—इस पर्व का सम्बन्ध विष्णुकुमार मुनि के साथ है। नमुचि, जो चक्रवर्ती सम्राट महा-पद्म का मन्त्री था। चक्रवर्ती सम्राट को प्रसन्न कर सात दिन का राज्य प्राप्त किया। जैन मुनियों से शास्त्रार्थ में पराजित होने के कारण उनसे बदला लेने के लिए उसने उनको कोल्हू में पिलवाकर मारने का आदेश दिया। तब विष्णुकुमार मुनि ने विराट् शरीर बनाकर उसे समाप्त किया और जैन मुनियों की रक्षा की। तब से रक्षाबन्धन पर्व प्रारम्भ हुआ।

(५) **पर्युषण महापर्व**—यह आध्यात्मिक साधना का महान् पर्व है। यह पर्व भाद्रपद कृष्णा बारस या तेरस से भाद्रपद शुक्ला चौथा या पंचमी तक मनाया जाता है।

अन्तिम दिन "संवत्सरी" महा पर्व है। इस दिन जैन साधक, मन, वचन और काया से अपनी भूलों के लिए क्षमा लेता और देता है। यह पर्व क्षमा और मैत्री का पावन पर्व है। दिगंबर परम्परा में भाद्रपद शुक्ला पंचमी से चतुर्दशी तक यह पर्व मनाया जाता है जिसमें प्रतिदिन क्षमा, निर्लोभता आदि दस धर्म में से एक-एक धर्म की आराधना की जाती है और इसलिए इसे "दश लक्षण पर्व" कहा जाता है।

खामेमि सव्वे जीवे सव्वे जीवा खमंतु मे।
मेत्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झं न केणइ॥

पर्युषण पर्व का यह मुख्य सन्देश है।

(६) **दीपावली**—दीपावली पर्व का सम्बन्ध भगवान महावीर के निर्वाण से है। उस समय देवों ने और मानवों ने प्रकाश किया। उसी का अनुसरण सभी ने किया। तभी से दीपावली पर्व का प्रारम्भ हुआ।

(७) **ज्ञानपंचमी**—यह पर्व ज्ञान की उपासना का पर्व है। इस पर्व को कार्तिक शुक्ला पंचमी के दिन मनाया जाता है। अतीत काल में जैन श्रमण लिखते नहीं थे। वे आगम आदि सभी को कण्ठस्थ रखते थे। पर, बाद में स्मृति दौर्बल्य से उनको विस्मृत होने लगे तब वीर निर्वाण सं० ९८० (विक्रम सं० ५१०) में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में वल्लभीपुर में लेखन कार्य प्रारम्भ हुआ और कार्तिक शुक्ला पंचमी को उसकी पूर्णाहुति मानी जाती है। वर्षावास में वर्षा से हस्त-

लिखित ग्रन्थ कहीं खराब न हो गये हों, इसलिए सामूहिक रूप से व्रत और उपवास कर ज्ञान भंडारों की प्रतिलेखना भी की जाती रही है। ज्ञान पंचमी के दिन उपवास के साथ "नमो नाणस्स" की माला भी फेरी जाती है।

(८) मौन एकादशी—इस पर्व का सम्बन्ध तीर्थंकर मल्ली भगवती के जन्म दिन के साथ है। इस दिन मौन की साधना कर मल्ली भगवती की उपासना की जाती है।

आहार-विवेक—

जो शरीरधारी हैं वे सभी भोजन करते हैं। पर भोजन कैसा, कितना तथा स्वास्थ्य के लिए कौन-सा भोजन कब आवश्यक है?—यह जानना बहुत ही आवश्यक है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भोजन दो कारणों से किया जाता है—

(१) शरीर में जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति के लिए, और
(२) शक्ति की वृद्धि के लिए।

जैन धर्म में माँस, मछली, अण्डे आदि तामसिक पदार्थों का सर्वथा निषेध किया गया है। क्योंकि मांस, मछली और अण्डे ये अप्राकृतिक भोजन है। वे अनेक आवेग और विकृतियाँ पैदा करते हैं। शरीरशास्त्र की दृष्टि से भी मांसाहार, मत्स्याहार, मानव के लिए अनुपयुक्त हैं। मांसाहारी और शाकाहारी की शरीर रचना में अन्तर है। मांसाहारी पशुओं

के नाखून पैने नुकीले होते हैं, उनके जवड़े लम्बे होते हैं वे जीभ से चपल-चपलकर पानी पीते हैं। पर शाकाहारी के नाखून इतने तीक्ष्ण नहीं होते। उनके जवड़े गोल होते हैं, वे होंठ से पानी पीते हैं। मांसाहारियों की आंतें छोटी होती हैं। वे कच्चा मांस खाते हैं।

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से मानव वन्दर का ही विकसित रूप है। वन्दर कभी मांस नहीं खाता। मानव को भी मांस और अण्डे नहीं खाने चाहिए। उससे आर्थिक दृष्टि से भी नुकसान है। मांसाहार से शरीर में अनेक भयंकर वीमारियाँ पैदा होती हैं। मांसाहार से वौद्धिक प्रतिभा पर भी बुरा असर होता है।

अत: भोजन में विवेक रखना नितान्त आवश्यक है। भोजन के साथ शराब, तंवाकू, सिगरेट, चरस, अफीम, गाँजा, एल. एस. डी, मारजुआना आदि नशीली वस्तुओं का उपयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि उससे चिन्तन शक्ति कुंठित होती है। स्वास्थ्य पर भी उसका बुरा असर पड़ता है। जैन धर्म में आहार शुद्धि पर बहुत ध्यान दिया गया है।

समन्वय

जैन धर्म की महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि उसका दृष्टिकोण अत्यधिक उदार रहा है। वह एक ही सत्य को विविध दृष्टियों से देखता है, परखता है। और अनेकान्त दृष्टि के आधार से सभी का समन्वय करता है।

जैन धर्म का मूल उद्घोष है—

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

—भगवान महावीर में मेरा पक्षपात नहीं है और कपिल आदि में कोई द्वेष नहीं है । जिस किसी व्यक्ति का वचन युक्तियुक्त होता है, उसको स्वीकार करना चाहिए ।"

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने जैन धर्म, जैन दर्शन, जैन साहित्य और जैन संस्कृति का बहुत ही संक्षेप में एक रूपरेखा प्रस्तुत की है,जिससे पाठक को जैनधर्म की महत्ता का परिज्ञान हो सके और जो अनेक भ्रान्त धारणायें हैं उनका निरसन हो सके । यह सत्य है कि जैन धर्म के अनुयायी अन्य परम्पराओं की तरह संख्या में अधिक नहीं है, पर जो भी जैनधर्म के अनुयायी हैं वे भारत के संभ्रांत नागरिक हैं, उच्च वर्ग के व्यापारी और चिन्तक वर्ग के लोग हैं । जैनधर्म कठोर साधना के नियमों के कारण विश्वव्यापी न बन सका, पर यह निश्चित है कि जैन धर्म के सिद्धान्त इतने वैज्ञानिक और बुद्धिगम्य हैं कि यदि उन्हें धारण किया जाय तो विश्व की गहन से गहन समस्याएँ भी सुलझ सकती हैं । यही कारण है आधुनिक युग के एक महान् चिन्तक 'बर्नार्ड शा' ने कहा था "अगर मेरा पुनर्जन्म हो तो मैं जैन कुल में जन्म ग्रहण करना चाहूँगा जिससे मैं आध्यात्मिक साधना सहज रूप से कर सकूँ ?

परिशिष्ट :

जैन पारिभाषिक शब्दकोष

अकर्मभूमि—असि, मसि, कृषि आदि कर्मों से रहितभूमि।

अगारी—'अगार' का अर्थ गृह है। गृह सहित जो है वह गृहस्थ या श्रावक—अगारी है।

अघाति कर्म—जीव के प्रतिजीवी गुणों का घात करनेवाले, कर्म; उनके कारण आत्मा को शरीर के कैद में रहना पड़ता है। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म अघाति कर्म हैं।

अंग-प्रविष्ट—जिन शास्त्रों की रचना अर्थ की दृष्टि से तीर्थंकर और सूत्र की दृष्टि से गणधर करते हैं; जैसे- आचारांग आदि आगम। ये बारह हैं।

अंग बाह्य—गणधरों के शिष्य-प्रशिष्यादि आचार्यों द्वारा अल्पबुद्धि शिष्यों के अनुग्रहार्थ की गई शास्त्र रचनायें-जैसे औपपातिक, राजप्रश्नीय आदि आगम।

अचेलक—अल्प वस्त्रधारी या जिसके पास किसी प्रकार का वस्त्र नहीं है।

अचौर्य महाव्रत—किसी भी स्थान पर रखे हुए, भूले हुए या गिरे हुए द्रव्य को ग्रहण करने की इच्छा न करना।

अजीव—जिसमें चेतना न पाई जाए।

अज्ञान—मिथ्यात्व के उदय के साथ विद्यमान ज्ञान ही अज्ञान है।

अणु—जो प्रदेश मात्र में होनेवाली स्पर्शादि पर्यायों के उत्पन्न करने में समर्थ हैं, ऐसे पुद्गल के अविनाशी अंश को अणु कहा जाता है।

अणुव्रत—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन स्थूल पापों के परित्याग को अणुव्रत कहा गया है।

अतिचार—चारित्र सम्बन्धी स्खलनाओं का नाम, अथवा व्रत का एकदेश से भंग होना अतिचार है।

अधर्म द्रव्य—जो स्वयं ठहरते हुए जीव और पुद्गल द्रव्यों के ठहरने में सहायक होता है।

अनन्त—आयरहित और निरन्तर व्यय सहित होने पर भी जो राशि कभी समाप्त नहीं हो और जो राशि एकमात्र—केवलज्ञान की ही विषय हो, वह अनन्त कहलाती है।

अनन्त काय—जिन अनन्त जीवों का एक साधारण शरीर हो और जो अपने मूल शरीर से छिन्न-भिन्न होकर भी पुनः उग जाते हैं।

अनन्तानुबन्धी—जिसके उदय होने पर सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता है और यदि उत्पन्न हो चुका है तो नष्ट हो जाता है। दूसरे शब्दों में अनन्त भवों की परम्परा को चालू रखनेवाली कषायों को अनन्तानुबन्धी कहा है।

अनुप्रेक्षा—शरीर आदि के स्वभाव का चिन्तन करना अथवा पठित अर्थ का मन से अभ्यास करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है।

अनेकान्त—एक वस्तु में मुख्यता और गौणता की अपेक्षा अस्तित्व-नास्तित्व आदि परस्पर विरोधी धर्मों का प्रतिपादन-अनेकान्त है।

अन्तराय कर्म—जो कर्म दाता और देय आदि के बीच में आता है—दान आदि देने में रुकावट डालता है। वह अन्तराय कर्म है।

अन्यत्व भावना—जीव के शरीर से पृथक होने पर उस शरीर से सम्बद्ध पुत्र-मित्र-कलत्र आदि उससे सर्वथा भिन्न रहने वाले हैं, जीव का उनके साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार की भावना अन्यत्व भावना है।

अपरिग्रह—मोह के उदय से "यह मेरा है" इस प्रकार की ममत्वबुद्धि परिग्रह है और परिग्रह से निवृत होना अपरिग्रह है।

अप्रमत्तसंयत—सर्व प्रकार के प्रमादों से रहित, और व्रत गुण, शील से युक्त सद्ध्यान में लीन, ऐसे श्रमण अप्रमत्त-संयत है।

अयोगिकेवली—जो शुक्ल-ध्यान रूप अग्नि से घातिया कर्मों को नष्ट करके योग से रहित हो जाते हैं, वे अयोगकेवली या अयोगिकेवली हैं।

अर्द्धमागधी भाषा—जो भाषा आधे मगध में बोली जाती थी अथवा जो अठारह देशी भाषाओं में नियत थी, उसका नाम अर्द्ध मागधी है।

अलोक—लोक के बाहर जितना भी अनन्त आकाश है, वह सब अलोकाकाश अथवा अलोक कहलाता है।

अवसर्पिणी—जिस काल में जीवों के अनुभव, आयु, प्रमाण और शरीरादि क्रम से घटते जाते हैं, वह अवसर्पिणी काल है।

अविरति—हिंसादि पापों से निवृत होने का नाम विरति है, और इस प्रकार की विरति का अभाव अविरति है।

असातावेदनीय—जिस कर्म का वेदन-अनुभव परिताप के साथ किया जाता है, वह असातावेदनीय है।

अस्तिकाय—अनेक प्रदेशी द्रव्यों को अस्तिकाय कहते हैं।

आकाश—जो धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और सभी जीवों को स्थान देता है, वह आकाश है।

आचार—जिसमें श्रमणों के आचार, भिक्षाविधि, विनय, विनयफल, शिक्षा, भाषा, अभाषा, चरण-करण, संयमयात्रा आदि का कथन किया गया है, उसका नाम आचार है।

आयम्बिल—जिसमें विगय, घृत, दूध, दही, तेल, और मिष्ठान्न त्यागकर केवल दिन में एक बार अन्न खाया जाय और गरम पानी पिया जाय वह आयम्बिल है।

आयुकर्म—नरक आदि गति को प्राप्त कराने वाले कर्म को आयुकर्म कहते हैं।

आलोचना—गुरु के समक्ष सरल भाव से अपने दोषों को प्रकट करना।

आवश्यक—जो अवश्य ही करने योग्य है, वह आवश्यक प्रतिक्रमण है।

आस्रव—मन, वचन और काया की क्रिया रूप जो योग है, वह आस्रव है। अथवा जिससे कर्म प्रवाह आता है वे मिथ्यात्व, अव्रत आदि आस्रव है।

इन्द्रिय—परम ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाले आत्मा को इन्द्र कहा है। वह इन्द्र जिसके द्वारा सुनता है, देखता है, सूँघता है, चखता हैं एवं स्पर्श करता है, वे इन्द्रियाँ हैं। दूसरे शब्दों में जो जीव को अर्थ की उपलब्धि में निमित्त होती हैं वे इन्द्रियाँ हैं।

ईर्यासमिति—दिन में सम्यक् प्रकार से निहारते हुए विवेक पूर्वक चलना ईर्यासमिति है।

उत्तराध्ययन—क्रम की दृष्टि से आचारांग के उत्तर (बाद) में पढा जानेवाला आगम।

उत्सर्पिणी—जिस काल मे जीवों के आयु, शरीर की ऊँचाई और विभूनि आदि की उत्तरोत्तर वृद्धि हो उसे उत्सर्पिणी कहते हैं।

उपयोग—वाह्य और आभ्यन्तर कारण के वश जो चेतनता का अनुसरण करनेवाला परिणाम उत्पन्न होता है, वह उपयोग है।

उपशम—आत्मा के कारणवश कर्म के फल देने की शक्ति के प्रकट न होने को उपशम कहते हैं।

उपासकदशा—जिस अंग में श्रमणोपासकों के अणुव्रत, गुणव्रत, पौषध, उपवास आदि की विधि, प्रतिमा की चर्चा हो।

ऊर्ध्वलोक—मध्य लोक के ऊपर जो खड़े किए हुए मृदंग के समान लोक है वह ऊर्ध्वलोक है।

ऋजुसूत्र—तीनों कालों के पूर्वापर विषयों को छोड़कर जो केवल वर्तमान कालभावी विषय को ग्रहण करता है, वह ऋजुसूत्र नय है।

एकेन्द्रिय—वे जीव जिनके एकेन्द्रिय जाति नामकर्म का उदय होता है, और जिनमें एक स्पर्शन इन्द्रिय ही पाई जाती है।

एवम्भूतनय—जो द्रव्य जिस प्रकार की क्रिया से परिणत हो उसका उसी प्रकार से निश्चय करानेवाले नय को एवम्भूतनय कहते हैं।

एषणा समिति—कृत, कारित एवं अनुमोदना दोषों से रहित दूसरों के द्वारा दिये गये प्रासुक व प्रशस्त भोजन को ग्रहण करना एषणा समिति है।

कर्म—मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से हुई जीव की प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट एवं सम्बद्ध तथा योग्य पुद्गल परमाणु।

कषाय—आत्म-गुणों को कषे, नष्ट करे, या जिसके द्वारा जन्म-मरण रूप संसार की प्राप्ति हो अथवा जो सम्यक्त्व, देश चारित्र, सकलचारित्र को न होने दे, वह कषाय है। कषाय-मोहनीय कर्म के उदयजन्य संसार वृद्धि के कारण रूप मानसिक विकार कषाय है। दूसरे शब्दों में समभाव की मर्यादा को तोड़ना, चारित्रमोहनीय के उदय से क्षमा, विनय, सन्तोष आदि आत्मिक गुणों को प्रगट न होने देना कषाय है।

काय-गुप्ति—शयन, आसन, आदान-निक्षेप, स्थान और गमन आदि क्रियाओं के करते समय शरीर की प्रवृत्ति को नियमित रखना, सावधानीपूर्वक उन कार्यों को करना, कायगुप्ति है।

कायोत्सर्ग—शरीर के ममत्व का परित्याग कर आत्मस्थ होना अथवा जिनेश्वर देवों के गुणों का मन में उत्कीर्तन करना।

कार्मण—जो सभी शरीरों की उत्पत्ति का बीजभूत शरीर है उनका कारण वह कार्मण शरीर है।

काल—जो पंच वर्ण, पंच रस, दो गंध व अष्ट स्पर्शों से रहित छह प्रकार की हानि-वृद्धि स्वरूप, अगुरु-लघु गुण से संयुक्त होकर वर्तना-स्वयं परिणमित हुए द्रव्यों के परिणमन में सह-कारिता-लक्षण वाला है वह काल है।

कृष्णलेश्या—निर्दयी, क्रूर स्वभावी, मद्य-मांस एवं गृद्ध आदि में आसक्त, जिसके परिणाम कौवे के समान व खंजन पक्षी के समान काले होते हैं।

केवलज्ञान—जो ज्ञान केवल, मतिज्ञानादि से रहित, परिपूर्ण, असाधारण, अन्य की अपेक्षा से रहित, विशुद्ध, समस्त पदार्थों का प्रकाशक, लोक व अलोक का ज्ञाता है, वह केवल ज्ञान है।

केवल दर्शन—तीनों कालों के विषयभूत, अनन्त पर्यायों से संयुक्त, निज के स्वरूप का जो संवेदन होता है, वह केवल दर्शन है, अथवा आवरण का पूर्णतया क्षय हो जाने पर जो बिना किसी अन्य की सहायता से समस्त, मूर्त अमूर्त द्रव्यों को सामान्य से जानता है, वह केवल दर्शन है।

गुणव्रत—अणुव्रतों के उपकारक होने से दिग्व्रत, अनर्थ-दंडव्रत, भोगोपभोग परिमाण व्रत को गुणव्रत कहा गया है।

गुणस्थान—ज्ञान आदि गुणों की शुद्धि एवं अशुद्धि के न्यूनाधिक भाव से होने वाले जीव के स्वरूप विशेष को गुणस्थान कहते हैं। अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि जीव के स्वभाव को गुण कहते हैं और उनके स्थान के उत्कर्ष एवं अपकर्षजन्य स्वरूप विशेष का भेद गुणस्थान है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो, दर्शनमोहनीय आदि कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपशम, आदि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न होनेवाले जिन भावों से जीव लक्षित होते हैं उन भावों को गुणस्थान कहते हैं।

गुप्ति—सम्यग्दर्शन पूर्वक मन, वचन एवं काय योगों के निग्रह करने को गुप्ति कहते हैं।

गृहस्थ—श्रावकोचित नित्य एवं नैमित्तिक अनुष्ठानों को करनेवाले मानवों को गृहस्थ कहते हैं।

के पारगत, सुगति-गतिगत-उत्तमपंचम गति को प्राप्त; सिद्धिपथ के उपदेशक तीर्थप्रवर्तक हैं; वे तीर्थंकर कहलाते हैं।

तीर्थंकर नामकर्म—जिस कर्म के उदय से दर्शन, ज्ञान, चारित्र स्वरूप तीर्थं का प्रवर्तन किया जाता है। आक्षेप, संक्षेप, संवेग एवं निर्वेद द्वार से भव्यजनों की सिद्धि के लिए मुनिधर्म व गृहस्थ धर्म का उपदेश दिया जाता है, तथा सुरेन्द्र एवं चक्रवर्ती से पूजित होता है, उसे तीर्थंकर नामकर्म कहा जाता है।

दान—अपने और दूसरे के उपकार के लिए जो धन आदि का त्याग किया जाता है, वह दान है।

दीक्षा—समस्त आरम्भ परिग्रह के परित्याग को और व्रत ग्रहण को दीक्षा कहा है।

देशावकाशिक व्रत—दिग्व्रत में जो दिशा का प्रमाण किया गया है उसमें प्रतिदिन संक्षेप करना देशावकाशिक व्रत है।

द्रव्य—जो अपने स्वभाव को न छोड़ता हुआ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सम्बद्ध रहकर गुण और पर्याय से सहित होता है। जो गुणों का आश्रय होता है वह द्रव्य हैं।

द्रव्यलेश्या—पुद्गल विपाकी वर्ण नामकर्म के उदय से जो लेश्या शरीरगतवर्ण होता है वह द्रव्यलेश्या है। कृष्ण, नील और पीतादि द्रव्यों को ही द्रव्यलेश्या कहा जाता है।

द्रव्यार्थिक नय—जो विविध पर्यायों को वर्तमान में प्राप्त करता है भविष्य में प्राप्त करेगा और जिसने भूतकाल में प्राप्त किया है उसका नाम द्रव्य है। इस द्रव्य को विषय करनेवाला नय द्रव्यार्थिक नय है।

धर्म—मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का शुद्ध परिणाम धर्म है।

धर्मद्रव्य—वर्ण, गंध, रस, स्पर्श से रहित गमन करते हुए जीव एवं पुद्गलों की गमन क्रिया में सहायता देनेवाला तत्त्व धर्म द्रव्य है।

नारक—जिसको नरकगति नामकर्म का उदय हो अथवा जीवों को क्लेश पहुँचाए वह नारक हैं। दूसरे शब्दों मे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से जो स्वयं तथा परस्पर में प्रीति को प्राप्त न करते हों।

नामनिक्षेप—नाम के अनुसार वस्तु में .गुण न होनेपर भी व्यवहार के लिए जो पुरुष के प्रयत्न से नामकरण किया जाता है वह नामनिक्षेप है।

निर्वाण—जहाँ राग-द्वेष से संतप्त प्राणी शीतलता को प्राप्त करते हैं वह निर्वाण है।

निश्चय नय—शुद्ध द्रव्य का निरूपण करनेवाले नय को निश्चय नय या शुद्ध नय कहते हैं।

पदस्थ-ध्यान—पवित्र पदों का आलंबन लेकर जो ध्यान किया जाता है वह पदस्थ ध्यान है। अथवा स्वाध्याय, मंत्र, गुरु या देव की स्तुति में जो चित्त की एकाग्रता हो वह पदस्थ-ध्यान है।

परमात्मा—सम्पूर्ण दोषों से रहित, केवलज्ञानादि रूप शुद्ध आत्मा ही परमात्मा है।

परमेष्ठी—मुमुक्षु के लिए परम इष्ट व मंगलस्वरूप अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु।

परलोक—मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होनेवाला अन्य भव।

परीषह—मार्ग से च्युत न होने के लिए तथा कर्मों की निर्जरा के लिए भूख-प्यास आदि को सहन करना।

पर्याप्त—जो जीव आहार आदि छह पर्याप्तियों से परिपूर्ण हो चुके हैं, वे पर्याप्त या पर्याप्तक कहलाते हैं।

पार्थिवी धारणा—ध्यान की अवस्था में मध्य लोक के बराबर क्षीरसागर, उसके जम्बू द्वीप के प्रमाणवाले सहस्रपथमय सुवर्ण कमल, उसके पराग समूह के भीतर पीली कान्ति से युक्त सुमेरु का प्रमाण कर्णिका और उसके ऊपर एक श्वेत वर्ण के सिंहासन पर स्थित होकर कर्मों को नष्ट करने में उद्यत आत्मा का चिन्तन करना पार्थिवी धारणा है।

पिण्डस्थ-ध्यान—अपने शरीर में पुरुष के आकार जो निर्मल गुणवाला जीव प्रदेशों का समुदाय स्थित है उसके चिन्तन का नाम पिण्डस्थ ध्यान है। दूसरे शब्दों में नाभिकमल आदि रूप स्थानों में जो इष्ट देवता का ध्यान किया जाता है वह पिण्डस्थ ध्यान है।

पुण्य—जिस कर्म के उदय से जीव को सुख का अनुभव होता है वह पुण्य है।

पुद्गल—स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश, परमाणु, ये रूपी हैं। इन रूपी द्रव्य को पुद्गल कहते हैं।

बन्ध—मिथ्यात्व आदि कारणों द्वारा काजल से भरी हुई डिबिया के समान पौद्गलिक द्रव्य से परिव्याप्त लोक में कर्म-योग्य पुद्गल वर्गणाओं का आत्मा के साथ नीर-क्षीर अथवा अग्नि और लोहपिंड की भांति एक दूसरे में अनुप्रवेश-अभेदात्मक एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध होने को बंध कहते हैं। अथवा

आत्मा और कर्म परमाणुओं के सम्बन्ध विशेष को बंध कहते हैं। अथवा अभिनव नवीन कर्मों के ग्रहण को बंध कहते हैं।

ब्रह्मचर्य—ब्रह्म—आत्मा, ब्रह्म—विद्या, ब्रह्म—अध्ययन आदि में रमण करना और ब्रह्म—वीर्य का रक्षण करना।

ब्राह्मी—यह भगवान ऋषभदेव की पुत्री थी जिसने सर्व-प्रथम लिपिविद्या का श्रीगणेश किया। उसी के नाम से ब्राह्मी लिपि प्रचलित हुई है।

भावलेश्या—योग और संक्लेश से अनुगत आत्मा का परिणाम विशेष। संक्लेश का मूल कषायोदय है, अतः अनुरंजित योग प्रवृत्ति भावलेश्या है। मोह कर्म के उदय या क्षयोपशम या उपशम अथवा क्षय से होने वाली जीव के प्रदेशों की चंचलता भावलेश्या है।

मतिज्ञान—इन्द्रिय और मन के द्वारा यथायोग्य होनेवाला ज्ञान।

मनःपर्यवज्ञान—इन्द्रिय और मन की अपेक्षा न रखते हुए मानव लोक के संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानना मनः पर्यवज्ञान है। अथवा मन के चिन्तनीय परिणामों को जिस ज्ञान से प्रत्यक्ष किया जाता है, वह मनःपर्यवज्ञान है।

मनोगुप्ति—मन, की प्रवृत्ति का गोपन करना मनोगुप्ति है।

मान—जिस दोष से नमने की प्रवृत्ति न हो, जाति, कुल, तप आदि के अहंकार से दूसरे के प्रति तिरस्कार की वृत्ति हो वह मान है।

माया—विचार और प्रवृत्ति में एकरूपता का अभाव माया है।

मोक्ष—सम्पूर्ण कर्मो का क्षय हो जाना।

मोहनीय कर्म—जीव को स्व-पर-विवेक तथा स्वरूप रमण में बाधा पहुँचाने वाले कर्म, अथवा आत्मा के सम्यक्त्व और चारित्र गुण का घात करनेवाले कर्म को मोहनीय कर्म कहते हैं।

लेश्या—जीव के ऐसे परिणाम; जिनके द्वारा आत्मा कर्मो से लिप्त हो अथवा कषायोदय से अनुरक्त जीव की प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है।

मत-सम्मत

विश्व के मूर्धन्य मनीषियों ने समय समय पर जैन धर्म के सम्बन्ध में चिन्तन किया, और उन्होंने जो उद्गार व्यक्त किये वे प्रबुद्ध पाठकों की जानकारी के हेतु यहां प्रस्तुत हैं—

1. "Janiism has contributed to the world the sublime doctrine of Ahimsa. No other religion has empasised the importance of Ahimsa and carried its practice to the extent that Jainism has done. Jainism deserves to become the universal religion because of its Ahimsa doctrine."

—Dr. Rajendra Prasad

(First President, Republic of India)

2. "Lord Mahavira proclaimed in India that religion is a reality and not a mere social convention. It is really truth."

—Dr. Rabindranath Tagore

3. "Yea ! his (The Jains) religion is the only true one upon earth, primitive faith of all mankind."

—Rev. A. J. Dubois

4. "In Jainism I find a solution to the here to unsolved problem of existence. I find plain answers to difficult questions which

cannot be truthfully refuted and which sink into and satisfy every corner of the brain and which if attacked by a searching criticism show up only still brilliantly."

—**H. Warren (London)**

5. "..............the Jains are a veritable oasis in the desert of human strife and worldly ambition. It were a better world indeed if the world were Jain.

—**Dr. Maurice Bloomfield**
(John Hopkins University)
Baltimore (U.S.A.)

6. "I personally believe that if only Jainism had kept its hold firmly in India, we would perhapc have had a more united India and certainly a greater India than to-day."

—**Sri R. K. Shanmugam Chetty**

7. "From modern historical rersarches, we came to know that long before Brahminism developed into Hindu Dharma, Jainism was prevalent in this country."

—**Justice Rangnekar**

8. "It has accordingly appeared to more that a study of Indian Philosophy is incomplete

without a study of Jaina's contribution to it."

—**Dr. Harisatya Bhattacharya**
(in "Philosophy of Jainas")

9. "The more scientific knowledge advances, the more the Jain teaching will be proved."

—**Dr. L. P. Tessitori (Italy)**

10. "I may say with conviction that the doctrine for which the name of Lord Mahavira is glorified nowadays is the doctrine of Ahimsa. If anyone has practised it to the fullest extent and propogated most of the doctrine of Ahimsa, it was Mahavira."

—**Mahatma Gandhi**

11. Mr. George Bernard Shaw, in the course of his talks with Shri Devadas Gandhi, son of Mahatma Gandhi, expressed the views that Jain teachings were appealing to him much and that he wished to be reborn in a Jain family. Due to the influence of Jainism, he was always taking pure food free from meat diet and liquor.

"If there is a rebirth, then I wish to be born in a Jain family."

—**George Bernard Shaw**

12. "The Jaina philosopher as I know is free from dogmatism, frankly realistic and

stands in close relation to other realistic school of thought............they have left for the posterity a full fledged philosophy which is indeed an invaluable heirloom."

—Mohd. Abdul Waheed Khan
(Archaeology)

13. "It is not correct to believe that Buddhism left some Hindu castes like Brahmins, Vaisyas etc., vegetarian. It was actually Jainism which achieved this in Andhra. Buddhist eat even to oblige a devotee, Jainas do not."

—S. Gopala Krishnamurthy
Page 88, "Jain Vestiges in Andhra"

14. "The Jainas have been an organised community all through the history of India from before the rise of Buddhism down to the present day."

—Prof. Rhys Davids

15. "The Jaina Sadhu leads a life which is praised by all. He practises the Vratas and the rites strictly and shows to the world the way one has to go in order to realise the soul, the Atma. Even the life of a Jaina householder is so faultless that India should be proud of him."

—Dr. Satishchandra Vidyabhushan

16. "Jainism is completely different from Hinduism and independent of it."

—Justice Kumaraswami Shastri

स्वाध्यायोपयोगी महत्वपूर्ण साहित्य

१. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा	४०)रु०
२. जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण	३०)
३. धर्म का कल्पवृक्ष : जीवन के आँगन में	२५)
४. श्रावक धर्म दर्शन	६५)
५. जैन धर्म में दान : एक समीक्षात्मक अध्ययन	२०)
६. कल्पसूत्र (विवेचनयुक्त)	२०)
७. चिन्तन की चान्दनी	३)
८. विचार रश्मियाँ	७)
९. अनुभूति के आलोक में	४)
१०. विचार वैभव	२)
११. विचार और अनुभूतियाँ	२)
१२. खिलती कलियाँ, मुसकाते फूल	३)५०
१३. प्रतिध्वनि	३)५०
१४. फूल और पराग	१)५०
१५. बोलते चित्र	१)५०
१६. जैन कथाएँ—भाग १ से ६० : प्रत्येक का मूल्य	३)रु०
१७. विमल विभूतियाँ	१०)
१८. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप	५०)

प्राप्ति स्थल :

श्री तारक जैन गुरु ग्रन्थालय

शास्त्री सर्कल, उदयपुर-३१३००१. (राजस्थान)